अध्यात्मरामायण में अध्यात्म-चिन्तन

लेखक :
पं. त्रिगुणानन्द शुक्ल

१९८६

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

आर ६ वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

अध्यात्मरामायण
में
अध्यात्म-चिन्तन

लेखक :
पं० त्रिगुणानन्द शुक्ल
काव्यतीर्थ, एम०ए०

१९८६

प्रकाशिका

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

(भारतम्)

अध्यात्मरामायण में अध्यात्म-चिन्तन

लेखक : पं० त्रिगुणानन्द शुक्ल

प्रकाशक : देववाणी परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहार, नई दिल्ली-११००५९

मुद्रक : प्रवीण प्रिंटिंग सर्विस
३५, टी एक्सटेंशन, उत्तम नगर,
नई दिल्ली-११००५९

संस्करण : प्रथम, १९८६

मूल्य : चालीस रुपये मात्र रु० ४०-००

Adhyātmarāmāyaṇa Men Adhyātma Cintana

Author : Shukla, Pt. Trigunanand

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6, Vani Vihar, New Delhi-110059

Printer : Parveen Printing Service
35, T Extn., Uttam Nagar,
New Delhi-110059

Edition : Frist, 1986

Price : Rupees Forty only Rs. 40-00

प्रास्ताविकम्

'**देववाणी-परिषद्, दिल्ली**'—इत्येतस्याः संस्थायाः संस्कृतसाहित्यप्रकाणां सद्ग्रन्थानां प्रकाशनमप्यन्यतममुद्देश्यमस्ति । तदनुसारमद्यावधि परिषदा पञ्चचत्वारिंशद् ग्रन्थाः प्रकाशिताः येषु कतिपये हिन्दीभाषामाध्यमेनापि संस्कृत-ग्रन्थ विषयिणीं सामग्रीं निदधति । एतेष्वेवान्यतमो ग्रन्थोऽस्ति **अध्यात्मरामायण में अध्यात्म चिन्तन**'इति । ग्रन्थोऽयं परिषत्प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु षट्चत्वारिंशत्तमः । अस्य लेखकोऽस्ति एम०ए० काव्यतीर्थोपाधिसुशोभितः हाजीपुरस्थब्रह्मदेवमुनि-उदासीनसंस्कृतमहाविद्यालयस्य प्राक्तनप्राचार्यः पटना-रांचीस्थराजकीयसंस्कृत-महाविद्यालययोः भूतपूर्वदर्शनविभागाध्यक्षः, दरभंगास्थकामेश्वरसिंहसंस्कृत-विश्वविद्यालयस्य भूतपूर्वाभिषत्सदस्यः 'आर्यावर्त'—'राष्ट्रवाणी'– नवशक्ति' —'संस्कृतसंजीवन'—'देववाणी'—'सन्मार्ग'—'जैन-भारती'—प्रभृतिपत्रिकाणां सम्पादकमण्डलस्य भूतपूर्वसदस्यः, कलकत्तास्थ-एशियाटिकसोसाइटी-पटनास्थ-बिहाररिसर्चसोसाइटी-संस्थयोः प्राक्तनसदस्यश्च पण्डितप्रवरः श्री त्रिगुणानन्द शुक्लमहाभागः ।

श्रीशुक्लमहाभागेनास्मिन् ग्रन्थे सरलरीत्या अध्यात्मरामायणस्य अध्यात्म परका अंशाः परिशीलिताः । अनेन ग्रन्थेन तेषां पाटकानामपि लाभो भविष्यति ये मूलसंस्कृतग्रन्थं पठितुं नैव क्षमाः सन्ति । सांख्यदर्शन-सिद्धान्ताः वेदान्त-सिद्धान्ताः अन्ये च ते ते सिद्धान्ताः—ये अध्यात्मरामायणे यथावसरं ग्रथितास्तेषां सुबोधरीत्या व्याख्यानमत्र गन्थे लेखकेन विहितम् ।

नूनं हि विना भौतिकीमुन्नतिं वयं सीदामः, किन्तु विनाध्यात्मिकीमुन्नति-मपि वयं सीदामः, अत उभयोरपि समन्वयसाधना प्रेयःश्रेयःकारिणी स्यादिति सुविचारकाणां मतिः । मयेदं '**भाति मे भारतम्**' इति काव्ये इत्थं संकेतित-मासीत्—

यद् दरिद्रव्यथां हर्तुमाकांक्षति
यच्च वैज्ञानिकीमुन्नतिं वाञ्छति ।
यन्निजाध्यात्मरत्नप्रभालोकितं
भूतले भाति तन्मामकं भारतम् ।।

विज्ञानसाहित्यकलासंगीताध्यात्मज्ञानानां समन्वयेनैव भारतस्य विश्वस्य च कल्याणं सिद्ध्येत न तु केवलया भौतिक्या धावनिकया। इदमपि मयाकांक्षितं 'भारतजनताहम्' इति रचनायाम्, यथा—

विज्ञानधनाहं ज्ञानधना साहित्यकलासंगीतपरा।
अध्यात्मसुधातटिनीस्नानैः परिपूता भारतजनताहम्॥

प्रेयःसाधनार्थं बहवः प्रयत्नाः क्रियन्ते उद्योगिभिः धनिकैः सर्वकारैश्च किन्तु श्रेयःसाधनार्थं ये प्रयत्नाः अस्माकं पूर्वपुरुषैः कृतास्तेषां संरक्षणार्थम् अग्रेसारणार्थञ्च अद्यत्वेऽपि बहवः कष्टमार्गानुयायिनः साधका अपेक्ष्यन्ते। एषु साधकेषु आचरणप्रचारणकर्तॄणां यथा महत्त्वं तथैव अधीतिबोधपराणां विदुषामपि महत्त्वं चकास्ति। तत्तद्भाषामाध्यमेन आध्यात्मिकप्रसंगानां प्रस्तुतिः वैज्ञानिके युगेऽपि स्वां प्रासंगिकतां दधाति।

पण्डितत्रिगुणानन्दशुक्लमहाभागेन सारल्येन अध्यात्मतत्त्वसम्प्रेषणार्थं योऽयं सारस्वतः प्रयत्नः समाचरितस्तदर्थमहं तस्मै देववाणी-परित्पक्षतः समभिनन्दनं व्याहरामि।

विदुषां वशवदः

रमाकान्त शुक्लः

(डा० रमाकान्त शुक्लः)
महासचिवः
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

आर ६, वाणी-विहारः,
नयी दिल्ली-११००५९
विजयादशमी, २०४३ वि०
१२.१०.१९८६ ई०

॥ श्रीमङ्गलमूर्तये नमः ॥

उपोद्घात

अध्यात्मरामायण की चर्चा मैं शैशवावस्था से ही सुना करता था। सर्व प्रथम अध्यात्मरामायण की कथा मैंने अपने पितामह पण्डित कन्हैया शुक्ल के फुफेरे भाई पण्डित मुकुन्द चौबे के मुँह से सुनी। चौबेजी कवि और कथावाचक दोनों ही थे। सुललित ढंग से कथा सुनाया करते थे। उसी समय एक बार अध्यात्मरामायण पढ़ने की मेरी उत्कट इच्छा जगी, किन्तु उस समय तो मेरी प्रारम्भिक शिक्षा ही चल रही थी। संस्कृत का ज्ञान तो उस समय सर्वथा नहीं था। कुछ श्लोक अवश्य रट लिये थे। अध्यात्मरामायण जैसा ग्रन्थ पढ़ना और उसे समझना तो दूर की बात थी किन्तु जिज्ञासा-रूप संस्कार उसी समय मेरे मस्तिष्क में प्रवेश कर गया। १९८४ ई० की २५ फरवरी शनिवार को गीता प्रेस की पटना स्थित दुकान वालों की कृपा से यह ग्रन्थ रत्न मुझे मिला। उसे तुरन्त खरीद लिया। अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया। यों तो ग्रन्थ में प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक विषय मिलने लगे, किन्तु अरण्यकाण्ड के तृतीय सर्ग में अगस्त्य मुनि के द्वारा वर्णित सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को पढ़ने के साथ-साथ मेरे मन में अध्यात्मरामायण में प्रतिपादित सांख्यदर्शन का अवलम्बन कर एक निबन्ध लिखने की उत्कट इच्छा हुई। आगे के अध्ययन के क्रम में मुझे और दार्शनिक विषय मिलने लगे। उत्तरकाण्ड में तो वेदान्त आदि गूढ़ विषयों का विवेचन मिला। अतः मैंने इसे सांख्यदर्शन तक ही सीमित नहीं रखा। इसका शीर्षक "अध्यात्मरामायण मे अध्यात्म चिन्तन" रखा तथा अब यह निबन्ध लिखने का स्वप्न प्रस्तुत पुस्तक के रूप में साकार हो गया। दार्शनिक विवेचन के साथ-साथ अध्यात्मरामायण में जहाँ-तहाँ भक्ति का स्वरूप भी उच्च कोटि का वर्णित है।

यहाँ अध्यात्मरामायण के सम्बन्ध में कुछ चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। स्वयं भगवान् रामचन्द्रजी ने श्री शङ्कर जी को अध्यात्मरामायण की कथा सुनाई थी जिसे शङ्करजी ने पार्वती जी को सुनाया। बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग का चतुर्थ श्लोक इसे स्पष्ट करता है। श्री महादेव जी की उक्ति वहाँ यों है—

> शृणु देवि प्रवक्ष्यामि गुह्यात् गुह्यतरं महत्।
> अध्यात्मरामचरितं रामेणोक्तं पुरा मम॥

इस ग्रन्थ का नाम "अध्यात्मरामायण" क्यों पड़ा यह भी एक विचारणीय विषय है। इसका अध्ययन बतलाता है कि यह ग्रन्थ अध्यात्म विषय से परिपूर्ण है। कथा प्रसङ्ग में भी स्थान-स्थान पर दार्शनिक उपदेश दिये गये हैं, अतः इसका शीर्षक अध्यात्मरामायण सर्वथा सार्थक है। राम-कथा के माध्यम से अध्यात्मज्ञान का उपदेश सर्वत्र किया गया है। श्री शङ्कर जी के शब्दों में ही यह दैविक, दैहिक और भौतिक तीनों तापों को नष्ट करने वाला है। इसे सुनकर मनुष्य अज्ञानजनित मोह-माया से छुटकारा पा जाता है तथा परम ऐश्वर्य, दीर्घायु प्राप्त करता है। और जो कुछ हो, अध्यात्मज्ञान से अज्ञान तो अवश्य ही दूर होगा।

इस रामायण में दर्शनशास्त्र के मार्ग से अध्यात्म ज्ञान कराते हुए भक्ति के मार्ग से मुक्ति साधन के उपाय भी बताये गये हैं। अध्यात्म और भक्ति का संगम भारतीय दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो में प्राय. नहीं मिलता। दर्शन शास्त्र के अध्ययन से सैद्धांतिक ज्ञान मिलता है तो भक्ति के मार्ग से मोक्ष साधन होता है मोक्ष की प्राप्ति के दो मार्ग बताये गये हैं—योग और भक्ति। उच्च कोटि के दार्शनिक मोक्ष साधन के लिए योग का मार्ग अपनाते हैं, जो कठिन है। भक्ति का मार्ग सबके लिए सुलभ है।

यद्यपि इस पुस्तक का मुख्य विषय अध्यात्म है, अतः दर्शनशास्त्र के विषयों तक ही इसकी सीमा होनी चाहिये तथापि भक्ति, आचार धर्म आदि विषयों को अध्यात्म से सर्वथा अलग नहीं रखा जा सकता। अतएव अध्यात्म रामायण का अनुसरण करते हुए यहाँ यथासाध्य इन विषयों का भी समावेश किया गया है। विदेशी दर्शनों के समान भारतीय दर्शन मानसिक चिन्तन मात्र ही नहीं है, अपितु इसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है, अतः उपर्युक्त विषयों को इससे अलग नहीं किया जा सकता। दार्शनिक सिद्धान्तों को योग और भक्ति रूपी व्यावहारिक रूप देने पर ही मोक्षसाधन सम्भव है। यों तो इस ग्रन्थरत्न में प्रायः सभी दर्शनों के सिद्धान्त यत्र-तत्र वर्णित हैं, किन्तु सांख्य-योग और वेदान्त के सिद्धान्तों का विवेचन स्थान-स्थान पर विशेष रूप से किया गया है। वास्तव में वेदोपनिषद् आदि में जो तत्त्व-विवेचन किया गया है उसे अपने-अपने विवेकानुसार कपिल आदि ऋषियों ने मुख्यतः ६ मार्गों में विभक्त किया। ये मार्ग हैं कपिल का सांख्यदर्शन, पतञ्जलि का योग, जैमिनि का मीमांसादर्शन, व्यास का वेदान्त, गौतम का न्याय और कणाद का वैशेषिक। उपर्युक्त सभी दर्शन श्रुतियों अर्थात् वेद-उपनिषद् आदि आर्ष वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, इसलिए ये आस्तिक कहलाते हैं। मनु के कथनानुसार

वेद की निन्दा करने वाले नास्तिक कहलाते हैं—'नास्तिको वेदनिन्दकः।' उपर्युक्त षड दर्शनों के अतिरिक्त शैवागम दर्शन आदि भी आस्तिक दर्शन हैं।

सभी दर्शनों में कुछ न कुछ विचार-भेद हैं, पर सभी के मुख्य विवेच्य विषय हैं आत्मा, परमात्मा तथा जगत् और इनका परस्पर सम्बन्ध। इन विषयों पर अपने-अपने विचार व्यक्त करते हुए सभी मोक्ष को ही अपना लक्ष्य मानते हैं। लक्ष्य एक है। मार्ग भिन्न हैं।

अध्यात्मरामायण के सम्बन्ध में ब्रह्मा जी का कहना है कि एक बार श्री राम तत्त्व को जानने की इच्छा से पार्वती ने श्री शङ्कर जी से नम्रतापूर्वक उसके सम्बन्ध में पूछा। उनकी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए शङ्कर जी ने उन्हें अध्यात्मरामायण की कथा सुनायी जो पुराणोत्तम कही गयी। 'पुराणोत्तम-मध्यात्मरामायणमिति स्मृतम्? (महात्म्य-श्लोक १९)।

इस रामायण में जहाँ कहीं भी देवता, ऋषि-महर्षि, महापुरुष आदि ने दार्शनिक विवेचन किया है उसे इस पुस्तक में उसी क्रम से उद्धृत किया गया है। साथ ही उपनिषद्, गीता, दार्शनिक ग्रन्थ आदि से उसकी पुष्टि में यत्र-तत्र उद्धरण भी उपस्थित किये गये हैं। सम्भव है जहाँ-तहाँ विचार भेद भी हों किन्तु वे विचार देव, ऋषि और महान् आत्माओं के हैं। अतः उनमें संशोधन आदि करने का अधिकार हम अकिञ्चनों का नहीं। वे 'अर्षत्वात् साधु हैं।'

लेखक से कुछ भ्रम रह जाना सम्भव है। हो सकता है कि कुछ सैद्धान्तिक, भाषागत या मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गयी हों अतः, विद्वान् पाठकों से अनुरोध है कि वे क्षमा करते हुए सुझाव भेजने का कष्ट करें ताकि उनके अनुसार अगले संस्करण में सुधार किया जा सके। यहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग पुंल्लिग में किया गया है जो संस्कृत प्रयोग के अनुरूप है। वस्तुत आत्मा पुरुष है और प्रकृति स्त्री-रूपा हैं।

अन्त में इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए **'देववाणी-परिषद्, दिल्ली'** के प्रति हार्दिक आभार करता हूँ। परिषद् के महासचिव डा० रमाकान्त शुक्ल के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने ग्रन्थ का 'प्रास्ताविकम्' लिखने की कृपा की है।

ग्रा० अवधपुरा, पो० गुल्टेनगंज, विनीत
जि० सारण, (बिहार) त्रिगुणानन्द शुक्ल

विषय-सूची

प्रास्ताविकम् : डा० रमाकान्त शुक्ल महासचिव देववाणी-परिषद् दिल्ली-क-ख, उपोद्घात ग-ङ, ब्रह्म और माया-१, श्री राम तत्त्व-२, भक्ति का महत्त्व-५, निर्गुण ब्रह्म-५, राम नाम का महत्त्व-७, अहल्या की स्तुति में दार्शनिक विचार-७, आत्मा और संसार-८, मायारूपा प्रकृति-६, वसिष्ठ द्वारा आध्यात्मोपदेश-११, शरीरादि की असारता-१२, ऋषि वामदेव की उक्ति-१४ सुख दुःख का करण-१५, ऋषियों द्वारा रामगुणागुवर्णन-१५, वसिष्ठ द्वारा भरत को अध्यात्मोपदेश-१६, राम द्वारा कैकेयी को आध्यात्मोपदेश-१६, अनसूया द्वारा ब्रह्म और माया का विवेचन-२०, विराध की स्तुति में अध्यात्म- ०, शरभङ्ग आदि ऋषियों द्वारा स्तुति-२१, सुतीक्ष्ण द्वारा माया और ईश्वर का विवेचन-२१, अगस्त्य मुनि द्वारा सांख्यमत विवेचन-२२, वन में लक्ष्मण के प्रति राम का आध्यात्मोपदेश-२५, ज्ञान-प्रकाश के साधन-३०, सीताहरण तथा राम का माया-प्रदर्शन-३१, जटायु की स्तुति में अध्यात्म-२४, कबन्ध की साकार मुक्ति-३६, भक्ति से मुक्ति-३६, राम के प्रथम दर्शन के समय हनुनान्-४०, सुग्रीव के द्वारा भक्ति का महत्त्व-वर्णन-४१, बालि का मोक्ष और तारा को उपदेश-४२, क्रियायोग-४६, स्वयंप्रभा का भक्ति दर्शन-४४, अङ्गद को हनुमान् द्वारा आध्यात्मोपदेश-४६, सम्पाति को चन्द्रमा मुनि द्वारा उपदेश-४६, जीव-विज्ञान-५०, रावण द्वारा सीता को आध्यात्मोपदेश-५५, हनुमान् द्वारा रावण को आध्यात्मोपदेश-५६, समुद्र तट पर राम द्वारा अध्यात्म चर्चा-५७ विभीषण द्वारा रावण को दार्शनिक उपदेश-६१, समुद्र के माध्यम से आध्यात्मोपदेश-६१, शुक द्वारा आध्यात्मोपदेश-६१, कालनेमि की अध्यात्मोक्ति-६४, कुम्भकर्ण द्वारा रावण को उपदेश-६५, रूप का ध्यान-६५, मन्दोदरी को रावण द्वारा आध्यात्मोपदेश-६६, रावण मोक्षोपरान्त नारदोक्ति-६७, विभीषण को लक्ष्मण द्वारा आध्यात्मोपदेश-६७, सीता की अग्नि प्रवेश और अध्यात्म चर्चा-६६, ब्रह्मा द्वारा अध्यात्मोक्ति-६६, योगियों के समीपवर्ती भगवान्-७१, शङ्कर जी द्वारा तारक-मन्त्रोपदेश-७२, हनुमान् का वर प्रदान-७३, मायामय जगत्-७३, अगस्त्य जी द्वारा सृष्टि क्रम वर्णन-७४, सर्वव्यापी परमात्मा-७५, विरक्त मुनि रूप राम-७६, रामगीता में अध्यात्म-७७, तत्त्वमसि-८०, शरीरादि का विवेचन-८३, आत्मा-८५, प्रणव वर्णन-८७, भव-बन्धन तथा मुक्ति के उपाय-६१, माना कौसल्या को भक्त्युपदेश-६२, विभुरूप राम-६५, देवाधिदेव का महाप्रयाण-६६ ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अध्यात्मरामायण में अध्यात्म-चिन्तन

ब्रह्म और माया

भगवान् चिन्मय हैं। वे आततायियों का वध करने के लिए माया-मानव रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होते हैं और इस पर अपनी कीर्ति की अमिट छाप छोड़ कर आद्यब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं। ब्रह्मतत्त्व रूप वे ही भगवान् विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के एक मात्र कारण हैं। माया का आश्रय होते हुए भी वे माया से सर्वथा अतीत अर्थात् परे हैं, अचिन्त्य मूर्ति हैं, आनन्दघन हैं, स्वयंबोधरूप[1] अर्थात् स्वयंप्रकाशरूप तथा तत्त्ववेत्ता हैं।[2]

शङ्करजी स्वयं पार्वती के द्वारा जगन्निवास, सर्वात्मदृक् अर्थात् सबके अन्त:करण को समझने वाले, साक्षी तथा सनातन बताये गये हैं। शङ्करजी स्वयं सनातन हैं, अत: उन से पुरुषोत्तम सनातन तत्त्व जिज्ञासा उन्होंने की। संसार-सागर से पार होने वाले भक्ति-वैराग्य से पूर्ण, प्रकाशमय आत्मज्ञान का सविज्ञान वर्णन करने की प्रार्थना पार्वती ने शङ्करजी से की थी। पार्वती के अनुसार श्रीराम के प्रति भक्ति संसार-सागर को पार करने के लिए नौका सदृश है। भगवान् राम परम, अद्वितीय, सृष्टि के आदि कारण और प्रकृति के माया गुण के प्रवाह से परे हैं, अत: सिद्ध लोग उनका सतत मनन करके परमपद प्राप्त करते हैं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि भगवान् राम अपनी अविद्या अर्थात् माया से संवृत होने के कारण आत्म-स्वरूप को नहीं पहचान पाते थे। अत: ऋषि लोग समय समय पर उन्हें आत्मतत्त्व का स्मरण कराया करते थे। लिखा है—

वदन्ति केचित् परमोऽपि रामः स्वाविद्यया संवृतमात्मतत्त्वम्।
जानाति नात्मानमतः परेण सम्बोधितो वेद परात्मतत्त्वम् ॥[3]

---

१. तोहर सरिस एक तुही माधव मन होइछ अनुमाने—विद्यापति।

२. अध्यात्मरामायण, बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक १ से ६।

३. वही. बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक ७ से १३।

भगवान् शङ्कर ने श्रीराम को[1] परात्मा (परमात्मा), प्रकृति से परे, अनादि, आनन्दघन, अद्वितीय और पुरुषोत्तम बताया है। उनकी उक्ति के अनुसारा वे निगूढ़ आत्मा हैं। वे अपनी माया से सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करते हैं, आकाश के समान इसके भीतर बाहर सब ओर स्थित हैं। वे सर्वान्तरस्थ अर्थात् सबके अन्त:करण में निवास करने वाले हैं और अपनी माया से सृष्ट जगत् का संचालन करते हैं। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को गतिशील बना देता है उसी प्रकार उनकी सन्निधि प्राप्त होने से सम्पूर्ण संसार चक्र चलता रहता है किन्तु जिनका चित्त अज्ञान से आवृत है वे आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ लोग इस विषय को नहीं जान पाते। ऐसे लोग शुद्ध, बुद्ध, मायारहित परमात्मा को भी अज्ञानोपहत समझते हैं और इसके परिणाम-स्वरूप पुत्र-कलत्रादि में आसक्ति के कारण अनेक सांसारिक कर्मों में लगे हुए जगचक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं। जिस प्रकार अनजान लोगों को अपने कण्ठ में स्थित रत्नमाला का भी पता नहीं रहता एवं जिस प्रकार मृग को अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार अज्ञानोपहत लोग अपने हृदय कमल में स्थित परमात्मा को नहीं पहचान पाते। सूर्य जिस प्रकार सदा प्रकाशमान है, उनमें अन्धकार सर्वथा नहीं है उसी प्रकार विशुद्ध, विज्ञानघन, परमात्मा राम में अविद्याजन्य अन्धकार कभी हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार मनुष्य की आंखों के घूमने से सभी घर आदि घूमते हुए दिखाई देते हैं अर्थात् रेल की यात्रा करते समय बाहर की वस्तुएं घूमती हुई दीख पड़ती हैं उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियों द्वारा किए गए कर्मों का आरोप जीव अपनी आत्मा में करता है और इस प्रकार मोह को प्राप्त होता है। सूर्य सदा प्रकाशमान हैं, अत: उसके अन्धकार का आरोप जिस प्रकार नहीं हो सकता उसी प्रकार भगवान् राम सर्वदा चैतन्य स्वरूप हैं, उनमें अज्ञान का आरोप कभी नहीं हो सकता। जहां ज्ञान होता है वहां अज्ञान नहीं टिक सकता। भगवान् राम स्वयं विज्ञानरूप और परमानन्दमय हैं, अत: उनमें अज्ञान का अन्धकार हो ही नहीं सकता। वे स्वयं अज्ञानसाक्षी और माया के अधिष्ठान हैं अत: उन्हें वह विचलित नहीं कर सकती।

श्रीरामतत्त्व

लंका से अयोध्या लौटने पर भगवान् राम ने सीता से कहा कि[2] हनुमान् हम लोगों का पक्का भक्त है, निष्कलङ्क है, ज्ञान के लिए सुपात्र है, अत:

---

१. वही, बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक १६ से २४।

२. वही, बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक ३० से ३५, ४३ से ५२।

उसे परमात्म-तत्त्व समझाओ। लोकविमोहिनी सीता ने भगवान् का आदेश शिरोधार्य कर श्रीराम के निश्चित तत्त्व का सदुपदेश हनुमानजी को दिया। उन्होंने कहा कि श्रीराम को ब्रह्म, सच्चिदानन्द, अद्वय, सभी उपाधियों से रहित, सत्तामात्र, इन्द्रियों के अगोचर, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरञ्जन, सर्वव्यापी, परमात्मा, स्वप्रकाशमान और निष्पाप समझें। मैं स्वयं सृष्टि, स्थिति एवं विनाश करने वाली मूल प्रकृति हूं। उनके सान्निध्य से मैं आलस्यरहित हो विश्व की सृष्टि करती रहती हूं। उनके सान्निध्य से सृष्टि वस्तुतः मैं ही करती हूं किन्तु अनभिज्ञ लोग मेरी इस सृष्टि का आरोप उन्हीं में मानते हैं। सांख्य दर्शन की यह मान्यता है कि पुरुष के संयोग से सत्त्व, रजस् और तमस् रूपा अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति में विकार स्वरूप सृष्टि होती है।

भगवान् राम निर्विकार और अखिलात्मा हैं उनमें सृष्टि का आरोप लगाना उचित नहीं। जितने सांसारिक कर्म (विकार) हैं वे सभी मेरी ही कृतियाँ हैं, अर्थात् प्रकृति के विकार स्वरूप ही सृष्टि है। मायारूपा भगवती ही सबको जन्म देती हैं। ईश्वर रूप राम न जाते हैं (चलते हैं), न ठहरते हैं, न शोक करते हैं, न उन्हें किसी वस्तु की आकांक्षा है, न वे त्याग करते हैं, न कुछ स्वयं करते ही हैं। वे आनन्दमूर्ति, अचल, परिणामरहित, माया के गुणों से अनुगत अर्थात् व्याप्त होने के कारण वे वैसे (सांसारिक जैसे) प्रतीत होते हैं।[1] सांख्य दर्शन का भी कहना है—

> **तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।**
> **संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥[2]**

तात्पर्य यह है कि पुरुष अर्थात् आत्मा न बन्धन में पड़ता है, न मुक्त होता है, न संसरण करता है अपितु बद्ध होना, मुक्त होना और संसरण करना अनेकाश्रया प्रकृति का धर्म है।

अनन्तर[3] भगवान् राम ने उपस्थित हनुमान् जी से स्वयं आत्मा, अनात्मा और परमात्मा का तत्त्व बतलाया। वे बोले—जलाशय में जिस प्रकार आकाश के तीन भेद दिखाई देते हैं उसी प्रकार चैतन्य के भी तीन भेद हैं। आकाश के तीन भेद हैं—सर्वप्रथम महाकाश जो सर्वत्र व्याप्त है, दूसरा है जलावच्छिन्न आकाश जो केवल जलाशय में ही सीमित है और तीसरा है प्रतिबिम्बाकाश,

---

१. बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक ४२, ४३।

२. सांख्यकारिका-६३।

३. अध्या० रामा० बालकाण्ड सर्ग १ श्लोक ४४ से ५२।

जिसका भान जल में प्रतिविम्व के रूप में होता है। उसी प्रकार चैतन्य के भेद हैं—बुद्धयवच्छिन्न चैतन्य जो बुद्धि में व्याप्त है, दूसरा है पूर्ण चैतन्य जो सर्वत्र परिपूर्ण और तीसरा है आभासरूप जो बुद्धि में प्रतिविम्बित है अर्थात् जिसका आभास ही मालूम पड़ता है। इसे आभासचेतन भी कह सकते हैं। अज्ञानी लोग भ्रमवश अविच्छिन, अविकारी और साक्षी आत्मा में जीवत्व का आरोप करते हैं और समझते हैं कि यही कर्ता है। वस्तुत: आभास चैतन्य सहित बुद्धि ही सब कुछ करती है। आभासचैतन्य मिथ्या माना गया है। ऐसी बुद्धि अविद्या का कार्य मानी गयीं है। ब्रह्म तो सर्वदा अविच्छिन है। उसका विच्छेद भी विकल्प से ही माना जाता है।

आभासयुक्त 'अहम्' के नाम से विख्यात जीव का अविच्छिन्न ब्रह्म से एकत्व प्रतिपादित करते हुए 'तत्त्वमसि'[1] महाकाव्य का आश्रय लिया जाता है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् तत् (वह ब्रह्म) त्वम् (तुम जीव) असि (हो), अर्थात् जीव भी ब्रह्म ही है। यहाँ जीव से तात्पर्य आत्मा से है। सभी वेदान्त सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि पूर्ण ज्ञान हो जाने पर जीव यह समझ जाता है कि वह स्वयं ब्रह्म है। कहा भी गया है 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' अर्थात् जीव ही ब्रह्म है। कह देना सरल है किन्तु इस स्थिति को पहुंचना अत्यन्त कठिन कार्य है। योग के माध्मस से श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ही यह सम्भव है। सिद्धान्तरूप वेदान्त वाक्यों को योगरूप व्यवहार में लाने की आवश्यकता है। महाकाव्य द्वारा जीवात्मा से परमात्मा ब्रह्म के एकत्व का सम्यग् ज्ञान हो जाने पर अविद्या अपने कार्यों सहित स्वयं नष्ट हो जाएगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

इस प्रकार जीव और ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादन करते हुए भगवान् रामचन्द्रजी ने हनुमान् जी को समझाया कि इस रहस्य को समझकर जीवात्मा मनसा, वाचा और कर्मणा एतदनुसार आचरण करते हुए मेरे अर्थात् भगवान् के वास्तविक स रूप की उपलब्धि का अधिकारी होता है। इसके विपरीत जो मेरी भक्ति से विमुख हो केवल शास्त्ररूपी गर्तों में भटकता रहता है उसे सैंकड़ों जन्मों में भी न ज्ञान होगा, न मोक्ष होगा।

इस प्रकार हमुमान् जी को राम हृदय रूप यह उपदेश देते हुए भगवान् राम ने कहा कि तुम पापरहित हो, अत: मैंने साक्षात् यह उपदेश तुम्हें दिया। यदि स्वर्ग के राज्य से बढ़कर भी कोई वस्तु तुम्हें कोई दे किन्तु यदि वह

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ६/६/७।

भगवद्भक्ति से हीन और शठ अर्थात् दुष्ट है तो उसे यह ज्ञान कदापि नहीं देना।

श्री शङ्कर जी ने पार्वती से यह गुप्त ज्ञान सुनाते हुए कहा कि यह 'राम-हृदय' स्वयं भगवान् राम के मुख से कहा गया है। यह गोपनीय, मनोहर, पवित्र, पापों का नाश करने वाला और सर्वविध वेदान्त का सारांश है। जो भक्तिपूर्वक उसका सदा पाठ करता है वह अवश्य भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। अनेक जन्मों के पाप भी इससे नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि यह स्वयं भगवान् श्रीराम के मुख से उच्चरित है। यदि कोई अत्यन्त भ्रष्ट और पापी, परधन और वनिता का अभिलाषी, चोर, ब्रह्महत्यानिरत, माता-पिता का हत्यारा और योगियों का अपकार करने वाला भी हो तो वह व्यक्ति भी यदि पश्चातापपूर्वक, भक्तिभाव से पूजा कर इस रामहृदय का पाठ करेगा तो वह देवताओं द्वारा भी पूजित उस परम पद को प्राप्त कर लेगा जो योगियों द्वारा भी अलभ्य है।

भक्ति का महत्त्व

बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग में[1] ब्रह्माजी ने भगवान् विष्णु की जो स्तुति की है, उसमें भी कुछ दार्शनिक विवेचन मिलता है। उनका कहना है कि कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए मुमुक्षु लोग प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और मन से भगवान् का चिन्तन करते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति अर्थात् माया का आश्रय लेकर ईश्वर संसार की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करते हैं किन्तु वे स्वयं आनन्दस्वरूप हैं, अतः वे इससे निर्लिप्त रहते हैं। यहां भक्ति की महिमा बताते हुए कहा गया है कि दान, अध्ययन आदि शुभ कार्य करने पर भी दुष्टों का अन्तःकरण वैसा शुद्ध नहीं हो सकता जैसा भगवान् के विशुद्ध यश के प्रति सदा भक्ति और प्रेम रखने वाले शुद्धात्मा भक्तों का। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान अधिकांश लोग स्वार्थसिद्धि के लिए करते हैं किन्तु ज्ञानी लोग अपरोक्षानुभूति के लिए सदा हृदय में उन्हें बैठाये रखते हैं। सांसारिक रोग से छुटकारा पाने के लिए यहाँ भक्तिरूप औषधि को ही सर्वाधिक प्रश्रय दिया गया है।

निर्गुण ब्रह्म

कौशल्या के गर्भ से भगवान् का जब पृथ्वी पर अवतार हुआ तब माता ने

---

१. अध्यात्म० बाल० श्लोक १४ से १८।

हाथ जोड़कर जो उनकी स्तुति की उसमें हमें गूढ़ दार्शनिक तत्त्व मिलते हैं।[1] माता ने स्वयं उन्हें परमात्मा, अच्युत, अनन्त, पूर्ण, पुरुषोत्तम, अगोचर अर्थात् बुद्धि, मन, वाणी आदि का अविषय, सत्तामात्र और ज्ञानस्वरूप बताते हुए उनके इन गुणों को वेद प्रतिपादित कहा है। उनका कहना है कि उन्हीं की प्रेरणा से त्रिगुणात्मिका माया अर्थात् प्रकृति जगत् की सृष्टि पालन और विनाश करती है। किन्तु भगवान् सदा निर्मल और तुरीय स्थिति में रहते हैं। वे कर्त्ता नहीं हैं किन्तु कर्त्ता जैसे प्रतीत होते हैं, स्वयं चलते नहीं हैं किन्तु चलते हुए जैसे मालूम पड़ते हैं। न देखते हुए भी देखते जैसे प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार नहीं सुनते हुए भी सुनते हुए जैसे उनका भान होता है। श्रुतिया बतातो हैं कि भगवान् प्राण और मनरहित हैं। सभी प्राणियों में समान रूप से विद्यमान रहते हुए भी दिखाई नहीं पड़ते। तुलसीदास जी ने भी लिखा है 'पग विनु चलैं, सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करैं विधि नाना।' जिस व्यक्ति का हृदय अज्ञानान्धकार से ढका हुआ रहता है वह भगवान् को समझ नहीं पाता। इसके विपरीत जिनकी बुद्धि विशुद्ध और परिपक्व है वे उनका साक्षात्कार करते हैं। भगवान् के उदर में सूक्ष्म रूप में अर्थात् परमाणु रूप में पूर्ण ब्रह्माण्ड दिखाई पड़ता है फिर भी भगवान् ने स्वयं कौशल्या जी के उदर से जन्म लिया। यह बड़ी विडम्बना है। भगवान् की लीला का पार पाना बहुत ही कठिन है। उनकी भक्तवत्सलता उच्चकोटि की है। कौशल्या ने स्वयं कहा है कि संसार सागर में डूबी हुई मैं अभी तक पति, पुत्र, धनादि के फेर में पड़ी रही किन्तु अब मैं आपके चरणकमलों की शरण में आ गई हूं, यह मेरा परम सौभाग्य है। हे भगवन्! आपसे मेरी प्रार्थना है कि आपका यह रूप सदा मेरे हृदय-पटल पर विद्यमान रहे और आपकी विश्वमोहिनी माया मुझे ढक न सके अर्थात् में मायातीत रहूं। अतः अब आप यह रूप छोड़कर बालरूप धारण करें जिसका लालन पालन कर और सम्भाषणादि के द्वारा मैं संसाररूपी घोर अन्धकार को पार कर सकूं।

माता की प्रार्थना सुनकर भगवान् श्रीराम बोले कि[2] आप जो कुछ चाहती हैं वही हो, अन्यथा कुछ नहीं होगा। पृथ्वी का भार उतारने के लिए ब्रह्मा आदि देवताओं और ऋषियों द्वारा प्रार्थित तथा दशरथ जी और आपके द्वारा पुत्र की इच्छा से आराधित मैंने यह अवतार धारण किया। मेरा यह दर्शन मोक्ष साधन कराने वाला है। उन्होंने यह भी बतलाया कि हम लोगों का यह

---

१. आध्या० बाल० सर्ग ३ श्लोक २० से २६।

२. वही, बालकाण्ड सर्ग ३ श्लोक ३० से ३४।

संवाद जो पढ़ेगा या सुनेगा उसे मृत्यु काल में भी मेरी स्मृति बनी रहेगी और वह उत्तम गति प्राप्त करेगा।

राम नाम का महत्त्व

गुरु वसिष्ठ ने कौशल्या पुत्र का नाम 'राम' रखा और इस[1] राम शब्द की व्याख्या करते हुए बताया कि अज्ञान का नाश हो जाने पर ज्ञान के द्वारा मुनि लोग जिनमें रमण करते हैं वे ही राम हैं (रमन्ते योगिनो यस्मिन्)। भगवान् योगियों के मनोगत हैं। वे अविकारी हैं और परिणामरहित हैं। अतः वे अच्युत भी कहलाते हैं। वे सब कार्य मनुष्य जैसा करते हैं किन्तु विचार किया जाए तो वे कुछ नहीं करते।

अहल्या की स्तुति में दार्शनिक विचार

भगवान् जगन्निवास हैं।[2] उनके चरण के रजःकण सबके पापों को दूर करने वाले हैं। उनकी लीला विचित्र है, उनके मानव भाव से सम्पूर्ण जगत् मोहित हो जाता है। चरणादिरहित होने पर भी वे सर्वदा चलते रहते हैं। वे पूर्ण और आनन्दमय हैं तथा अत्यन्त मायावी हैं। श्रुतियां भी उनके चरण-रज की खोज करती रहती हैं, अर्थात् उनके महत्त्व का अन्वेषण करती रहती हैं। उन्हीं की नाभि से ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। शङ्कर जी भी उनके नाम के रसिक हैं। नारद आदि ऋषि भी उनका सदा गुणानुवाद करते रहते हैं। वे भगवान् परमात्मा, पुराणपुरुष, स्वयं प्रकाशमान और अनन्त हैं। लोक विमोहिनी माया के गुणों का आश्रय लेकर विभिन्न रूप धारण करते हैं, वह भी लोक कल्याण के लिए। ब्रह्मा शङ्कर आदि उन्हीं के नाम भेद हैं। भगवान् जगत् के आदिकारण और उसके आश्रय हैं। इतना होते हुए भी वे सभी प्राणियों से अलग हैं। वे ही प्रणव अर्थात् 'ओंकार' के वाचक हैं। वाणी के अगोचर हैं। वाच्य-वाचक भेद से अर्थात् शब्द-अर्थ रूप भेद से वे ही जगद्रूप हैं। एक भगवान् ही कार्य-कारण और कर्तृत्व, फल-साधन के भेद से एक होते हुए भी अनेक रूपों में अभिभाषित होते हैं। इन सब का कारण माया है। उनकी माया से अभिभूत बुद्धि वाले तत्त्वतः उन्हें समझ नहीं पाते और उन्हें मनुष्य समझते हैं। वास्तव में वे मायावी परमेश्वर हैं। आकाश के

---

१. वही, बालकाण्ड सर्ग ३ श्लोक ४० और ६६।

२. वही, बालकाण्ड सर्ग ५ श्लोक ४३ से ६५।

सदृश भगवान् बाहर, भीतर और सर्वत्र व्याप्त और मलरहित, असङ्ग, अचल, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सद्‌रूप तथा अव्यय हैं। वे पुरुषोत्तम, भक्तवत्सल, भवभय हरण करने वाले, करोड़ों सूर्य के समान प्रकाश वाले हैं।

निषाद ने वार्ता के समय उनसे कहा कि भगवान् के चरणकमल रज में पत्थर को मनुष्य बना देने की शक्ति है। ऐसा कह उसने उनके चरण धोये।[1]

आत्मा और संसार

भगवान् राम ब्रह्मा आदि के लिए भी अलभ्य तथा प्रकृति से परे हैं।[2] अज्ञान से उत्पन्न जन्म आदि भावना उनमें नहीं है। वे निर्विकार पूर्ण तथा गमानादि से रहित हैं। जिस प्रकार जल में फेन समूह है और अग्नि में धुंआं है उसी प्रकार उन्हीं के आधार पर टिकी हुई (त्वदाधारा), उन्हीं पर आश्रित और उन्हीं को विषय करके माया सृष्टि करती है। लोग जब तक माया से आवृत रहते हैं तब तक उनको नहीं पहचानते। विद्याविरोधिनी अविद्या तब तक रहती है जब तक विचार नहीं किया जाता। अविद्याजनित देह आदि के संघात में प्रतिबिम्बित चित् शक्ति ही इस लोक में 'जीव' कहलाती है। जीव जब तक देह, मन, प्राण, बुद्धि आदि में अभिमान वाला होता है अर्थात् इन्हें अपना समझकर गर्व करता है तब तक वह कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि के भोग में लिपटा रहता है। आत्मा में संसारी होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। संसरण अर्थात् जन्म-मरण आदि आत्मा में किसी भी अवस्था में नहीं हैं तथा बुद्धि में ज्ञान शक्ति नहीं है। अविवेक के कारण मनुष्य इन दोनों को एक समझता संसारी कहलाता है। जड़ बुद्धि का चेतन आत्मा से संयोग होने पर उसमें चैतन्य उसी प्रकार आ जाता है जिस प्रकार जल और अग्नि का मेल होने पर जल में उष्णता और अग्नि में ठण्डापन का भान होने लगता है। जब तक भगवान् के चरणों में भक्तों का सङ्ग निरन्तर नहीं होता तब तक मनुष्य भवसागर के दुःख समूह को पार नहीं करता। मनुष्य जब भक्तजनों के सम्पर्क से भक्ति के मार्ग का अनुसरण करता है तब माया स्वयं धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। ऐसा होने पर साधक को सद्‌गुरु से महाकाव्य 'तत्त्वमसि' का ज्ञान प्राप्त होता है और वह भगवत्कृपा से संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। भगवद्भक्तिरहित मनुष्यों को करोड़ कल्पों में भी न ब्रह्मज्ञान होगा न उनका मुक्ति ही सम्भव है क्योंकि ब्रह्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। यही कारण है कि ऐसे व्यक्ति को वास्तविक सुख नहीं

१. वही, बालकाण्ड सर्ग ६ श्लोक ३।

२. वही, बालकाण्ड सर्ग ७ श्लोक ३० से ४५।

मिलता। भक्तों के संग और भगवद्भक्ति के द्वारा ही अविद्या का नाश होने पर परम सुख की प्राप्ति होती है। भगवद्भक्ति में रत लोग भगवद्धर्म रूपी अमृत वर्षाते हैं तथा इस प्रकार न केवल अपने कुल को अपितु मानव मात्र को पवित्र करते हैं। उपर्युक्त विचार परशुराम ने विष्णुस्तुति के क्रम में व्यक्त किये हैं।

माया रूपा प्रकृति

जगत् का आदि कारण माया रूपिणी सीता है जिनका ईश्वर रूप भगवान् राम का सम्पर्क होने से ब्रह्मा आदि प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। वह सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों वाली है। सांख्य दर्शन के अनुसार इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।' इन तीनों गुणों में कमीवेशी होने पर प्रकृति में विकार होता है और विकारजन्य शुक्ल, रक्त तथा कृष्णवर्णा सृष्टि होती है। भगवान् त्रिलोक रूप महागृह के गृहस्थ कहे गये हैं, भगवान् राम विष्णु रूप हैं तो सीता लक्ष्मीरूपा हैं, वे शिव हैं तो जानकी शिवा अर्थात् पार्वती रूपा हैं, राम ब्रह्मा रूप हैं तो सीता सरस्वती रूपा हैं, राम सूर्य हैं तो जानकी प्रभा हैं, राम चन्द्रमा रूप हैं तो जानकी शुभलक्षणा रोहिणी रूपा हैं, राम इन्द्र हैं तो सीता पौलोमी अर्थात् शची हैं, राम अनल हैं तो सीता स्वाहा हैं, राम काल रूप हैं तो सीता संयमिनी हैं, राम निर्ऋति हैं तो सीता शुभ तामसी हैं, राम वरुण हैं तो जानकी शुभलक्षणा भार्गवी अर्थात् भृगुपुत्री वारुणी हैं, राम वायु हैं तो सीता सदागति हैं, राम कुबेर हैं तो सीता उनकी सम्पत्ति हैं, राम लोक का विनाश करने वाले रुद्र हैं तो सीता रुद्राणी (पार्वती) हैं। इस प्रकार संसार में जितने पुरुष रूप हैं वे राम और स्त्रीरूपा श्री जानकी हैं। इस क्रम से संसार में राम और सीता से परे कुछ नहीं है। इसी भाव को लेकर तुलसीदास जी ने लिखा है, 'सिया राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥' अनन्तर नारदजी ने कहा है कि संसार में राम और सीता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् ईश्वर सर्वोपरि है और उनकी माया ही सृष्टि है।

भगवान् के आभास से उदित अज्ञान अव्याकृत कहा जाता है। उस अव्याकृत से महान् अर्थात् महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से सूत्रात्मा, जिसे हिरण्यगर्भ कहते हैं, उत्पन्न होता है और उस सूत्रात्मा से सर्वात्मक लिङ्ग शरीर की

---

१. वही, अयोध्याकाण्ड सर्ग १ श्लोक १० से ४१।

उत्पत्ति होती है। अहङ्कार, बुद्धि, पञ्च प्राण (प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान) तथा एकादशेन्द्रिय (पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक मन)—इन उपर्युक्त तत्त्वों का समूह ही विद्वज्जनों द्वारा लिङ्ग शरीर कहा गया है जो जन्म, मृत्यु, सुख आदि वाला वताया गया है। इस प्रकार लिङ्गदेहाभिमानी चैतन्याभास ही तन्मय होकर जीवसंज्ञक होता है। अवाच्य अर्थात् अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या ही जींव की कारणोपाधि कहलाती है। कर्मकाण्ड के अनुसार यदि कोई स्वयं अपना जीवित श्राद्ध करता है तो संकल्पादि मन्त्रोच्चारण में 'प्रेत' न कहकर 'जीव' शब्द से ही सम्बोधन करता है। चिति अर्थात् चेतना की स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेद से तीन उपाधियाँ हैं। एतद्विशिष्ट अर्थात् इन तीनों उपाधियों से युक्त होने से जीव कहा जाता है और इनसे वियुक्त अर्थात् रहित होने पर वही परमेश्वर या परमात्मा कहलाता है।

संसृति अर्थात् सृष्टि तीन प्रकार की मानी गयी है—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। भगवान् उनसे विलक्षण, साक्षी और चिन्मात्र अर्थात् चेतनमात्र है। संसार भगवान् से ही उत्पन्न हुआ है। उन्हीं में सब कुछ प्रतिष्ठित है तथा उन्हीं में सब कुछ लीन भी हो जाता है। अतः भगवान् सृष्टि, स्थिति और विनाश के कारण हैं। जिस प्रकार रात में रस्सी देख कर उसे सर्प समझते हुए लोग उससे डरते हैं अर्थात् जिस प्रकार रस्सी में सर्प का आरोप करते हैं उसी प्रकार आत्मा को जीव समझने वाले को भय होता है किन्तु जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है कि वह परमात्मा है तब उसके भय, दुःख आदि सब नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा और परमात्मा का एकीभाव हो जाता है। भगवान् सबके आत्मा माने गए हैं क्योंकि चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप वे ही सबकी देहों में बुद्धि को प्रकाशित करते हैं। रज्जु में सर्प के भ्रम के समान अज्ञान के कारण ही भगवान् में ही सब कुछ का न्यास अज्ञानी लोग करते हैं किन्तु परमात्म ज्ञान हो जाने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। अतः, सर्वदा सद्ज्ञान का अभ्यास करना उचित है। भगवद्भक्तियुक्त जो जन हैं उन्हें क्रमशः विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। अतः, विज्ञान पूर्वक भक्ति युक्त जो होते हैं वे ही मुक्ति के पात्र होते हैं।

इस प्रकार भगवद्गुणानुवाद के क्रम में गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करते हुए नारद जी ने श्री राम से कहा कि मैं आपके भक्तों का भी दास हूं। अतः, आप मुझे मोह में न डाल कर मेरे ऊपर अनुग्रह करें। नारद जी ने यहां तक कहा कि आपकी नाभि से उत्पन्न ब्रह्माजी का मैं पुत्र हूं। अतः, आपका पौत्र हुआ। इसलिए मुझ भक्त की आप रक्षा करें तथा पृथ्वी के भार

का हरण करने की आपने जो प्रतिज्ञा की है उसका पालन करने के लिए अब राज्यभार ग्रहण करें तथा राक्षसों का, विशेषतः रावण का नाश कर पृथ्वी के भार को हल्का करें, क्योंकि आप सत्यप्रतिज्ञ हैं। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और रावणवध के लिए उन्हें आश्वासन देकर विदा किया।

इस नारद-राम संवाद को उद्धृत करते हुए शंकर जी ने पार्वती को बताया कि इस संवाद को जो पढ़ेगा, सुनेगा या इसका स्मरण करेगा वह क्रमशः वैराग्यपूर्वक देवताओं के लिए भी दुर्लभ कैवल्यरूप मोक्ष को प्राप्त करेगा। यहां कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा तो अनेक जगह लिखा हुआ मिलता है तो क्या इससे मोक्ष प्राप्त हो जाएगा किन्तु ऐसा कुतर्क करने वालों को उत्तर उपर्युक्त वाक्यों में ही मिल जाता है। जो अध्यात्म तत्त्व नारद जी ने बतलाये हैं, उन्हे यदि योग के माध्यम से जीवन में उतारा जाए तो अवश्य सिद्धि होगी। पहले बतलाया जा चुका है कि कहना सरल है किन्तु तदनुसार करना बहुत कठिन है।

वसिष्ठ द्वारा आध्यात्मोपदेश

दशरथजी की इच्छा के अनुसार राज्याभिषेकार्थ रामचन्द्रजी को बुलाने जब वसिष्ठजी गये तब श्रीराम ने उनका चरणोदक लिया। इस पर हंसते हुए वसिष्ठजी ने कहा[1] कि आपका चरणोदक लेकर गिरिजापतिशङ्कर धन्य हो गए और मेरे पिता ब्रह्माजी भी आपके पाद-तीर्थ का सेवन कर अशुभ का नाश कर निष्पाप हो गये। आप इस समय जो कुछ कह या कर रहे हैं वह लोगों को उपदेश देने तथा उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए ही कर रहे हैं। यह मैं अच्छी तरह जानता हूं कि लक्ष्मी सीता के साथ प्रकट हुए आप साक्षात् परमात्मा हैं। मैं यह भी जानता हूं कि देवताओं की कार्यसिद्धि तथा भक्तों की भक्तिसिद्धि के लिए रावण के वधार्थ आप राम रूप में प्रकट हुए हैं। सब होते हुए भी आप जो अपनी माया से सब कुछ कर रहे हैं, उनका अभिज्ञान होते हुए भी मैं देवकार्य की सिद्धि को लक्ष्य करके इस रहस्य का उद्घाटन नहीं कर रहा हूं। आप तो गुरुओं के भी गुरु हैं और पितरों के भी पितामह हैं तथापि लोक व्यवहार में आप शिष्य हैं और मैं गुरु। वसिष्ठ जी को वे अन्तर्यामी, जगद्यात्रावाहक, अगोचर, स्वेच्छा से शुद्ध सत्त्वमय शरीर धारण कर अपनी योगमाया से इस लोक में मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं। वसिष्ठ ने पौरोहित्य कर्म को गर्हित और दूषित जीविका बताते हुए कहा कि यह

१. वही, अयोध्याकाण्ड सर्ग २ श्लोक २२,से ३२, ४१,४२।

रहस्य जानते हुए भी मैंने आपके कुल का आचार्यत्व इसलिए अपनाया कि आपका साहचर्य तो मुझे प्राप्य होगा। देवताओं ने आपके अवतार का संकेत मुझे पहले ही बता दिया था। मेरा मनोरथ आज पूर्ण हुआ। माया आपके अधीन है। अतः, ऐसी कृपा करें कि वह मुझे मुग्ध न कर सके अर्थात् मैं माया के वशीभूत न हो सकूं। गुरु के ऋण से आप मुक्त होना चाहते हैं तो आप मुझे यही वर दें।

राम के राज्याभिषेक के निश्चय का समाचार सुन कर कौशल्या ने लक्ष्मी की पूजा की किन्तु कैकेयी के वश में राजा दशरथ को जानकर भय से व्याकुल हो मंङ्गल कामना के लिए दुर्गा की पूजा की। आज भी स्त्रियां मङ्गलकामना के लिए भगवती दुर्गा की पूजा करती हैं।

शरीरादि की असारता

वन गमन का पित्रादेश सुनकर लक्ष्मण जब क्रुद्ध हो दुर्वाक्य बोलने लगे तब भगवान् राम ने उन्हें समझाते हुए कहा[1] कि राज्य देहादि जो दिखाई दे रहे हैं वे सब निःसार हैं। यदि ये सत्य होते तो तुम्हारा इनके लिए प्रयास सार्थक होता। जितने सांसारिक भोग हैं वे मेघ रूपी वितान में चञ्चल विद्युत् के समान चञ्चल हैं। आयु भी तप्त लोहे के ऊपर पड़ी हुई जल बिन्दु के समान क्षणिक है। जिस प्रकार सर्प के मुख में पड़ा हुआ भी मेंढक कीटों को पकड़ने की इच्छा रखता है उसी प्रकार काल रूपी सर्प से ग्रस्त होने पर भी मनुष्य अशाश्वत भोगों के लिए ही रात दिन दुःख सहते हुए भी कामों में लगा रहता है। यदि मनुष्य यह समझ जाए कि पुरुष अर्थात् आत्मा से देह भिन्न है तो उसे भोग की लालसा ही नहीं रहेगी। पिता, माता, पुत्र, भाई, पत्नी, बन्धु आदि का साथ उसी प्रकार क्षणिक है जिस प्रकार जल गिरने के स्थान पर जीव जन्तु और नदी में बहकर आई हुई लकड़ियां। छाया के समान लक्ष्मी चञ्चला है, युवावस्था जल की तरङ्ग के समान अध्रुव अर्थात् अनित्य है, स्त्री सुख स्वप्न के समान है, आयु भी थोड़ी ही है तथापि जीव इन्हें पाकर अभिमान करता है।

संसार रोगादि से युक्त तथा स्वप्न के समान क्षणिक और मिथ्या है। यह काल्पनिक गन्धर्वनगर के समान है जिसका अनुमान ज्योतिर्विद ही लगा सकते हैं। मूर्ख लोग ही मिथ्या संसार को सत्य मानकर उसका अनुसरण करते हैं। अपनी आयु प्रतिदिन क्षीण होती जाती है और दूसरों को बूढ़ा होते तथा मरते हुए देखकर भी मूढ़ जनों को चेत नहीं होता। काल का वेग न समझते हुए वह

---

१. वही, अयोध्याकांड चतुर्थ सर्ग श्लोक १० से ४४।

बराबर सांसारिक भोगों में ही लीन रहता है। आयु सर्वदा क्षीण होती जाती है और रोग शरीर को सदा क्षीण करते जाते हैं। व्याघ्री के समान वृद्धावस्था सदा सामने खड़ी रहती है और मृत्यु उसके साथ ही अपने आने की प्रतिक्षा करती रहती हैं।

शरीर कृमि, विष्ठा और भस्मरूप है। जीव इसी शरीर में अहंभाव रखता हुआ अर्थात् शरीर ही मैं हूं, ऐसी बुद्धि रखता हुआ समझता है कि मैं ही लोक विश्रुत राजा हूं। शरीर त्वचा, अस्थि, मांस, विष्ठा, मूत्र, शुक्र रुधिर आदि से बना हुआ विकारी, परिणामी और अनित्य है। वह अनात्मा है। वह आत्मा कभी नहीं हो सकता। देहाभिमानी मनुष्य तथा अन्य जीवों में ही सभी दोषों का प्रादुर्भाव होता है। मैं देह हूं'—ऐसी बुद्धि ही अविद्या कहलाती है और इसके विपरीत 'मैं देह नहीं हूं अपितु चेतन आत्मा हूं ऐसी बुद्धि विद्या कहलाती है। विद्या ज्ञान और अविद्या अज्ञान है। अविद्या संसार का कारण और विद्या उससे निवृत्ति का कारण है। अतः मुमुक्षु लोगों को सर्वदा विद्याभ्यास अर्थात् ज्ञान का आश्रय लेना चाहिए। इस मार्ग के अर्थात् ज्ञान मार्ग के काम, क्रोधादि शत्रु हैं। ये सर्वदा बाधक ही रहते हैं। साधक कभी नहीं। क्रोधादि के वशीभूत होकर मनुष्य अपने पिता, भाई, मित्र सबका वध करने के लिए उद्यत हो जाता है। क्रोध मन के सन्ताप और संसार बन्धन का कारण होता है। वही धर्म का भी नाश कराने वाला है, अतः क्रोध का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। क्रोध बहुत बड़ा शत्रु है, तृष्णा वैतरणी नदी, सन्तोष नन्दन वन और शान्ति कामधेनु है। अतः शान्ति का अवलम्बन करने वाले का शत्रु नहीं होता। आत्मा, देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि से विलक्षण, शुद्ध, स्वयंज्योतिस्वरूप, अविकारी और निराकार है। मनुष्य जब तक आत्मा को देह, इन्द्रिय, प्राण आदि से भिन्न नहीं समझता तब तक वह जन्म-मरण के फेर में पड़ा हुआ सांसारिक दुःखों से पीड़ित रहता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर, बुद्ध्यादि से भिन्न अपने को समझें। सुख और दुःख सब प्रारब्धवश प्राप्त होते हैं। अतः, मनुष्य को चाहिए कि वह चिन्ता-रहित होकर इनका भोग करे किन्तु इनमें लिप्त नहीं हो। जो निर्लिप्त होकर काम करता जाएगा वह अन्त में शुद्ध ही होगा। अन्त में भगवान् रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण और अपनी माता कौशल्या को यह उपदेश देते हुए कहा कि मेरे इस उपदेश के अनुसार चलने वालों को सांसारिक दुःख बाधित नहीं कर सकते।

ऋषि वामदेव की उक्ति

ये राम स्वयं विष्णु आदिनारायण हैं।[1] जानकी स्वयं सुविख्यात योग-माया हैं। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। माया के गुणों से युक्त होकर भगवान् समय समय पर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् इसकी पुष्टि करती है। लिखा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय ४ मन्त्र १०)

रजोगुण से युक्त होने पर विश्व की रचना करने वाले ब्रह्मा हुए, सत्त्व गुण का आश्रय लेकर विश्व का पालन करने वाले विष्णु तथा तमोगुण का आश्रय लेकर अन्त में जगत् के प्रलय का कारण रुद्ररूप शङ्कर हुए।

इन्हीं राम ने मत्स्यरूप धारण कर अपने भक्त वैवस्वत मनु को प्रलय के अन्त में नाव में बैठाकर उनका पालन किया। समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल के सुतललोक को चले जाते समय कच्छपरूप धारण कर उन्हीं राम ने अपनी पीठ पर पर्वत को धारण किया। प्रलयकाल में जब पृथ्वी रसातल को चली गयी तब उसे सूकर रूप धारण कर उन्होंने ही अपने दाँतों के अग्रभाग पर उठा लिया। प्रह्लाद की रक्षा करने तथा उन्हें वर देने के लिए उन्होंने ही नृसिंह रूप धारण किया तथा अपने नखों से तीनों लोकों के कण्टक हिरण्यकशिपु को विदीर्ण किया। वामन अवतार लेकर बलि को छला। क्षत्रियों का अत्याचार बढ़ गया तो परशुराम रूप धारण कर उन्होंने ही उन्हें शान्त किया और पृथ्वी का भार उतारा। मनुष्य के हाथ से रावण की मृत्यु होने वाली है, अतः, उन्होंने राम का रूप धारण किया है। उनकी पत्नी सीता मायारूपा हैं, जो सृष्टि, स्थिति और विनाश करने वाली हैं। इस प्रकार भगवान् अपनी शक्ति के साथ ही राक्षसों का विनाश कर पृथ्वी का भार उतारने के लिए यहां अवतरित हुए हैं। अन्त में उन्होंने कहा कि पृथ्वी पर जो व्यक्ति सदा राम नाम जपता रहता है उसे मृत्यु आदि का भय नहीं रहता। कलियुग में मुक्ति के लिए राम नाम ही परम साधन है। भक्तों की रक्षा तथा रावण वध करने के लिए राजा दशरथ की अभीष्ट-सिद्धि को लक्ष्य कर भगवान राम के रूप में अवतरित हुए हैं। उनके साथ शेषनाग के अवतार

१. वही, अयोध्याकाण्ड सर्ग ५ श्लोक ११ से २३।

लक्ष्मण और माया रूपा सीता भी हैं जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण हैं।

सुख दुःख का कारण

लक्ष्मणजी ने निषाद को उपदेश देते हुए[1] बताया कि न कोई किसी को सुख देता है, न दुःख। वस्तुतः पूर्वार्जित कर्म ही सुख और दुःख के कारण हैं। यदि कोई कहे कि कोई किसी को सुख या दुःख देता है, तो यह उसकी कुबुद्धि है। यदि कोई कहे कि कोई कार्यविशेष मैं करता हूं तो यह उसका मिथ्याभिमान है। लोग अपने कर्मों के सूत्र में बंधे हुए हैं मनुष्य समय-समय पर जो आचरण करता है उसके अनुसार सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ, बन्धु-बान्धव आदि की कलपना वह स्वयं कर लेता है। मनुष्य अपने कर्मों के वश में है। अतः, उसे चाहिए कि सुख या दुःख जिस रूप में आये उसका स्वस्थ मन से भोग करे और सर्वथा प्रसन्न रहे। उसे न भोग की इच्छा होनी चाहिए न उसे त्यागने की ही। भोग आये अथवा न आवे, मनुष्य उसके अधीन नहीं है। मनुष्य जिस स्थान पर जिस प्रकार का शुभ या अशुभ कर्म करता है उसका फल उसे तदनुरूप अवश्य ही भोगना पड़ता है। कर्म के अनुसार सुःख या दु;ख आने पर मनुष्य को हर्ष या विषाद के फेर में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि विधाता की गति का देवता या असुर कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। यहां कर्मानुसार भाग्यफल का विधान किया गया है। शरीर पुण्य और पाप दोनों से उत्पन्न होता है, अतः वह सुख और दुःख वाला होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य सदा सुख और दुःख से अवरुद्ध रहता है। जिस प्रकार दिन के बाद रात और रात के बाद दिन प्रकृति का नियम है, उसी प्रकार सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख जन्तु को हुआ करते हैं। इस नियम का उल्लंघन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। सुख में दुःख और दुःख में सुख परस्पर इस प्रकार मिले हैं जिस प्रकार जल और पङ्क। इसी लिए विद्वान् सब कुछ को माया समझते हुए इष्ट और अनिष्ट दोनों ही अवस्थाओं में धैर्य धारण करते हुए हर्ष या शोक नहीं करते। सर्वदा एक रूप रहते हैं।

ऋषियों द्वारा राम-गुणानुवर्णन

भरद्वाज ऋषि ने राम को प्रकृति से परे[2] बताया है। वाल्मीकि ने उन्हें

१. वही, अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ श्लोक ४ से १५।
२. वही, अयोध्याकाण्ड सर्ग ६ श्लोक ४० तथा ५८ से ६४।

सभी लोकों का उत्तम निवासस्थान बताया है तथा सभी जीवों को स्वयं उनका निवासगृह बताया है। लोकोपकारी, शान्त, समदर्शी, द्वंद्वरहित तथा अहर्निश भजन करने वालों के हृदय भगवान् राम के निवासस्थान हैं। जो सभी रात दिन धर्म और अधर्म की वार्ता से रहित हैं तथा जो भगवान् राम का भजन करते रहते हैं उनके हृदय-मन्दिर में श्रीराम सीता सहित निवास करते हैं। इसलिए लोग केवल राम का नहीं अपितु सीता सहित राम नाम का जप करते हैं। जो राम के मन्त्र का जप करते हैं और उनकी शरणागत हो गये हैं तथा निर्द्वन्द्व एवं निःस्पृह हैं उनका हृदय राम का सुन्दर निवास स्थान है। जो अहंकार रहित हैं, शान्त प्रकृति के हैं, रागद्वेष रहित हैं और जो लोहा, पत्थर, सोना आदि को समान समझते हैं अर्थात् जो लोभ रहित हैं उनके हृदय में भगवान् राम निवास करते हैं। जो अपने मन और अपनी बुद्धि को भगवान में ही लीन करके सदा सन्तुष्ट रहता है और जो अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर देता है उसका हृदय ही भगवान् का शुभ निवास स्थान है। जो अप्रिय को पाकर उससे द्वेष नहीं करता और प्रिय को पाकर जिसे प्रसन्नता नहीं होती, इस प्रकार सब कुछ को जो माया समझता है उसी का हृदय भगवान् का घर है। सत्ता, जन्म लेना, वृद्धि प्राप्त करना, परिवर्तन होना, क्षीण होना तथा नाश को प्राप्त होना—ये छः शरीर के विकार हैं। ये विकार शरीर के ही हैं, आत्मा के नहीं। ऐसा आचार विचार जिसका है और तदनुसार जो आचरण करते हैं, जो क्षुधा, तृष्णा, सुख, भय, दुःख आदि को आत्मा के नहीं अपितु प्राण और बुद्धि के विकार समझता है, तथा जो सांसारिक धर्मों को अपने से मुक्त रखता है उसका मन अर्थात् हृदय भगवान् का निवास स्थान है। जो उन्हें सर्वव्यापी, चिद्घन, सत्य, अनन्त, एकेश्वररूप, निर्लेप, सर्वगत, सर्वश्रेष्ठ मानते हैं उनके हृदय में सीताराम का वास होता है। निरन्तर अभ्यास के द्वारा जिनकी आत्मा स्थिर अर्थात् शान्त हो गयी है, जो भगवान् की सेवा में परिनिष्ठित हैं तथा भगवन्नाम के कीर्तन से जिनके पाप नष्ट हैं उनके हृदय कमल में सीता सहित भगवान् राम का वास होता है। अन्त में ऋषि वाल्मीकि ने कहा कि भगवन्नाम के प्रभाव से उन्होंने स्वयं ब्रह्मर्षि पद प्राप्त किया। अतः उस नाम की महिमा का वर्णन कौन किस प्रकार कर सकता है।

वसिष्ठ द्वारा भरत को अध्यात्मोपदेश

राजा दशरथ की मृत्यु के बाद भरत को सान्त्वना देते हुए ऋषि

वसिष्ठ ने कहा[1] कि आत्मा नित्य, अव्यय अर्थात् अविनाशी, शुद्ध और जन्म नाशादि रहित है तथा शरीर जड़, अत्यन्त अपवित्र और नाशवान् है, अतः शोक न करें। लिखा है :

तं शोचसि वृथैव त्वमशोच्यं मोक्षभाजनम् ।
आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्धो जन्मनाशादिवर्जितः ॥
शरीरं जडमत्यर्थमपवित्रं विनश्वरम् ।
विचार्यमाणे शोकस्य नावकाशो कथञ्चन ॥[2]

गीता में भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है जो इससे सर्वथा मिलताजुलता है। लिखा है[3] :

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥
अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

ऋषि वसिष्ठने कहा कि यदि ज्ञानी मनुष्य को किसी से वियोग होता है तो वह उसके वैराग्य का कारण हो जाता है और उससे उसकी सुख-शांति की वृद्धि होती है। वे फिर बोले—

जन्मवान्यदि लोकेऽस्मिंस्तर्हि तं मृत्युरन्वगात् ।
तस्मादपरिहार्योऽयं मृत्युर्जन्मवतां सदा ॥[4]

अर्थात् इस संसार में यदि जन्म लेता है तो मृत्यु उसकी अवश्य होगी। जन्म लेने वाले की मृत्यु अपरिहार्य है। गीता का भी कहना है :

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥[5]

---

१. अयोध्याकाण्ड सर्ग ७ श्लोक ६५ से १०८।
२. अयोध्याकाण्ड सर्ग ७ श्लोक संख्या ६५, ६६।
३. श्रीमद्भागवद्गीता अध्याय २ श्लोक ११, १७, १८, २०।
४. अयोध्याकाण्ड सर्ग, श्लोक ६६
५. श्रीमद्भगवद्गीता अ० २ श्लोक २७

जीवन अगि‍क है। इसमें आस्था उचित नहीं। आयु क्षणिक है, यथा जल बिन्दु कमलपत्र पर। प्राक्तन देह के कर्मों के अनुसार जीव इस समय का देह को धारण करता है। इसी प्रकार कर्मानुसार बार बार देह की प्राप्ति होती रहती है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्याग कर नया वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार देही (जीव) पुराने शरीर का त्याग कर नवीन शरीर को धारण करता है। लिखा है :

यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णाति नूतनम्।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम् ॥[१]

गीता का भी कहना है :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥[२]

आत्मा की नित्यता को बतलाते हुए अगला श्लोक है :

भजत्येव सदा तत्र शोकस्यावसरः कुतः।
आत्मा न म्रियते जातु जायते न तु वर्धते ॥[3]

अर्थात् आत्मा न मरता है, न जन्म लेता है, नहीं वृद्धि को प्राप्त होता है। अतः इसके लिए शोक करने का अवसर ही नहीं है। इसकी पुष्टि में गीता बतलाती है :

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भवित वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[४]

इसी की पुष्टि करती हुई कठोपनिषद कहती है :

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[५]

---

१. अयोध्याकाण्ड सर्ग ७ श्लोक १०४

२. गीता अध्याय १ श्लोक २२

३. अयोध्याकाण्ड सर्ग ७ श्लोक १०५

४. गीता अध्याय २ श्लोक २०।

५. कठोपनिषद् १/२/१८।

आत्मा विकारों से रहित, अनन्त, सच्चित् प्रज्ञानघन, आनन्दस्वरूप, बुद्धि आदि का साक्षी और अविनाशी है। वह अद्वितीय अर्थात् ईश्वररूप, एक और समभाव से स्थित है। अन्त में वसिष्ठ जी ने भरत जी को समझाते हुए दशरथ जी की विधिवत् अन्त्येष्टि क्रिया करने का उपदेश किया।

राम द्वारा कैकेयी को अध्यात्मोपदेश

वन में भरत के साथ गयी हुई कैकेयी को जब पश्चात्ताप हुआ और जब वे भगवान् राम के वास्तविक तत्त्व को समझ गयीं तब उन्होंने उनसे क्षमा याचना की। उन्होंने उन्हें साक्षात् विष्णु, अव्यक्त परमात्मा, सनातन आदि बताया और कहा कि[1] आप अपनी अनुपम माया से सम्पूर्ण जगत् को मोहित कर देते हैं। आप की ही प्रेरणा से लोग अच्छा या बुरा कर्म करते हैं। सम्पूर्ण विश्व आप के ही अधीन है। स्वतन्त्र नहीं होने के कारण लोग स्वयं कुछ नहीं कर सकते। जिस प्रकार सूत्रधार की प्रेरणा से कठपुतली उसी की इच्छा के अनुसार नाचती है उसी प्रकार आपके अधीन अनेक रूपों वाली माया रूपा नर्तकी। आपकी ही प्रेरणा से देवताओं का कार्य करने के लिए पापी मन वाली मैंने पाप कर्म किया। आज मुझे विश्वास हो गया कि आप देवताओं के लिए भी अगोचर हैं। हे विश्वेश्वर अनन्त, जगन्नाथ आपको नमस्कार। मेरे स्नेहमय पाशों को आप काट दें और मेरी रक्षा करें।

माता कैकेयी की बात सुनकर स्वयं भगवान् राम ने कहा कि आपने जो कुछ कहा है वह सब सत्य है। मेरी ही प्रेरणा से आपके मुख से निकली हुई वाणी देव कार्य की सिद्धि के लिए हुई। इसमें दोष आपका नहीं है। अब आप रात दिन हृदय में मेरा ध्यान करें। इस प्रकार संसार से विगतस्नेहा हो जाने पर आपको मोक्ष की प्राप्ति होगी। मैं सर्वत्र समदर्शी हू। मेरा कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है। जो जिस रूप में मेरा भजन करता है उसी रूप में मैं भी उसका भजन करता हूँ अर्थात् उसका उपकार करता हूं। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥[2]

भगवान् राम ने पुनः बताया कि मेरी माया से मोहित होकर लोग मुझे मनुष्य की आकृति में देखते हैं और अपने समान ही मुझे भी सुख-दुःख से युक्त समझते हैं ऐसे लोग तत्त्वतः मुझे नहीं पहचानते। सौभाग्यवश आपको

---

१. अयोध्याकाण्ड सर्ग ९ श्लोक ५५ से ६९।
२. श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ११।

संसार के भय से दूर करने वाला यह ज्ञान उत्पन्न हुआ। मेरा स्मरण करती हुई आप घर पर ही रहें। आप कर्म बन्धन से मुक्त रहेंगी। इस प्रकार कैकेयी ने आनन्द और विस्मय से युक्त हो पुत्र रूप राम की परिक्रमा की और उन्हें सैंकड़ों बार प्रणाम कर घर गयीं।

अनसूया द्वारा ब्रह्म और माया का विवेचन

अयोध्याकाण्ड के अन्त में अनसूया ने भगवान् राम की स्तुति के रूप में कहा कि[1] सम्पूर्ण भुवनों की रचना कर उनकी रक्षा के लिए आप देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियों में आवश्यकतानुसार देह धारण करते हैं किन्तु शरीर के गुणों से आप निर्लिप्त रहते है। अखिल ब्रह्माण्ड को मोहित करने वाली माया आपसे डरती रहती है।

अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में[2] भगवान् राम ने जब अत्रि ऋषि से वन का मार्ग दिखलाने के लिए किसी ब्रह्मचारी को भेजने का आग्रह किया तब मुनि ने उनसे कहा कि आप तो सबके मार्गद्रष्टा हैं, आपका मार्ग प्रदर्शन कौन करेगा।

रामचन्द्रजी जब नदी पार कर वन को धनुष बाण सजाकर जाने लगे तब उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा कि मैं आगे आगे चलता हूं और तुम पीछे चलो। दोनों के बीच में सीता उस प्रकार चलेगी जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा के बीच में माया रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को परमात्मा से मिलने देने में माया बाधा उपस्थित करती है।

विराध की स्तुति में अध्यात्म

विराध-वध के प्रसङ्ग में भी आध्यात्मिक ज्ञान[3] प्राप्त होता है। भगवान् राम ने जब विराध का वध किया तब मरने के समय उसे आत्मज्ञान हुआ और अपनी मुक्ति के लिए अनुनय-विनय करता हुआ वह बोला कि आप विशुद्ध ज्ञान-मूर्ति हैं, आत्माराम, मायारूपा सीता सहित विराजमान युगलरूप सृष्टिकर्त्ता हैं। आपको मैं बार बार प्रणाम करता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि मुझ से माया दूर हो जाय और मैं देवलोक को प्राप्त हो सकूँ। भगवान् ने उसे वर देते हुए कहा कि तुम्हारे सब गुण-दोष यहीं नष्ट हो गये। अब तुम मेरी आज्ञा से शापमुक्त हो विद्याधरत्व प्राप्त करो। इस प्रकार विराध की मुक्ति हुई।

---

१. अयोध्याकाण्ड सर्ग ९ श्लोक ६२।

२. अरण्यकाण्ड सर्ग १ श्लोक ८।

३. अरण्यकाण्ड सर्ग १ श्लोक ३८ से ४६।

शरभङ्ग आदि ऋषियों द्वारा स्तुति

आगे बढ़ने पर शरभङ्ग ऋषि मिले। उन्होंने भी विराध के समान ही उनकी स्तुति की और उसी के समान वाक्य का प्रयोग किया।[1] ऋषि ने अपने सभी अच्छे बुरे कर्मों के फल राम को ही समर्पित कर दिये। उन्होंने चिता बनाकर भगवान् का ध्यान करते हुए उसमें प्रवेश किया तथा पञ्चात्मक पार्थिव शरीर को भस्म करते हुए दिव्य शरीर धारण कर ब्रह्मलोक को चले गये। यहां रामचन्द्रजी को मायामानुषरूप कहा गया है। ऋषियों ने कहा कि हम लोग जानते हैं कि आप स्वयं हरि हैं, जानकी लक्ष्मी का अवतार हैं। लक्ष्मणजी शेषनाग का अंश हैं तथा भरत और शत्रुघ्न भगवान् के शङ्ख और चक्र हैं। अतः, आप ऋषियों का दुःख दूर करें।

सुतीक्ष्ण द्वारा माया और ईश्वर का विवेचन

अगस्त्य ऋषि के शिष्य सुतीक्ष्ण ने[2] उन्हें अनन्तगुण, अप्रमेय, शिव-विरञ्चि आदि से भी पूजित और संसार रूप सागर से तरने के लिए पोत रूप बताया। उन्हें इन्द्रियागोचर बताते हुए कहा कि पुत्र-कलत्र आदि सांसारिक माया जाल मे फँसे हुए मेरा उद्धार करने के लिए आप स्वयं पधारे हैं। आप सभी प्राणियों के हृदय में निवास करत हुए भी मन्त्रजाप से विमुख लोगों को मायाग्रस्त कर देते हैं। राजा के समान आप सबको सेवा के अनुरूप फल देते हैं। आप अकेले विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय के कारण है तथा अपनी त्रिगुणात्मिका माया के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु शङ्कर रूप में भासित होते हैं। जिस प्रकार पात्रगत जल में एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित होकर अनेक जैसा प्रतीत होता है उसी प्रकार आप भी मोहग्रस्त व्यक्तियों की दृष्टि में अनेक प्रकार आकृतियों में प्रतीत होते हैं। भगवान् राम तम अर्थात् अन्धकार या यों कहें कि अज्ञान से सर्वथा परे है। वे असज्जन अर्थात् असत्पुरुषों के लिए सर्वथा अगोचर हैं तथापि उनका नाम जपने से जिनका हृदय शुद्ध हो गया है उन पर वे सदा प्रसन्न रहते हैं। भगवान् अरूप हैं तथापि अपनी माया से वे समय पर मनुष्यादि रूप धारण करते हैं, यथा यह धनुषबाण युक्त रामरूप। वस्तुतः वे सदा प्रकाशरूप हैं। उन्होंने स्वयं सुतीक्ष्ण ऋषि से कहा कि जो सर्वदा निरपेक्ष हैं और जिनकी अनन्य गति है अर्थात् जो सर्वदा उन्हीं का ध्यान करते रहते हैं उन्हें भगवान् सदा दर्शन देते रहते हैं।

---

१. अरण्यकाण्ड सर्ग २ श्लोक ५ से १६

२. अरण्यकाण्ड सर्ग २ श्लोक २७ से ३६।

अगस्त्य मुनि द्वारा सांख्यमत विवेचन

अगस्त्य मुनि ने भगवान् राम के अवतारों के सम्बन्ध की चर्चा करते हुए उनसे कहा कि जब क्षीर समुद्र के पास ब्रह्माजी ने रावण का वध कर पृथ्वी का भार उतारने के लिए अवतार लेने की प्रार्थना आपसे की थी तभी से आप के दर्शन की अभिलाषा से मैं मुनियों सहित तप करते हुए यहाँ निवास कर रहा हूँ। ऐसा कहते हुए अगस्त्य जी ने सृष्टिक्रम का[1] वर्णन प्रारम्भ किया जो सांख्य-दर्शन के तत्त्व विवेचन से सर्वथा मिलता जुलता है। योग दर्शन के अनुसार ईश्वर को सर्वोपरि माना गया है, अतः इस वर्णन को सेश्वर सांख्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। योग दर्शन भी तो सेश्वर सांख्य ही है। साथ ही यहाँ वेदांत मत का भी प्रतिपादन किया गया है। अगस्त्य जी ने बताया है कि सृष्टि पूर्व भगवान् केवल एक, निर्विकल्प और उपाधि-रहित थे। माया उन्हीं में आश्रित, उन्हीं को विषय बनाने वाली तथा उन्हीं की शक्ति कही गयी है। जब निर्गुण ब्रह्म को यह शक्ति आवृत कर लेती है तब इस अवस्था को वेदांत-परिनिष्ठित लोग अव्याकृत कहते हैं। सांख्यमतप्रवर्त्तक महर्षि कपिल ने इसे मूल प्रकृति की संज्ञा दी है। वेदांतवादी दार्शनिकों ने इसे माया भी कहा है। यही अवस्था अविद्या, संसृति, बन्ध इत्यादि अनेक प्रकार से अभिहित हुई। यहाँ से सांख्य दर्शन की तत्त्व प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

ब्रह्म अर्थात् पुरुष से संक्षुब्ध हो प्रकृति महत्तत्त्व को जन्म देती है। पुरुष की प्रेरणा से ही महत्तत्त्व अहंकार तत्त्व को पैदा करता है। महत्तत्त्व से संवृत होकर वही अहङ्कार सात्त्विक, राजस और तामस रूपों में अभिव्यक्त होता है। तामस अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होती हैं। इन पाँचों तन्मात्राओं से तदनुरूप तथा तदनुगुण क्रमशः आकाश, वायु तेज (अग्नि), जल तथा पृथ्वी—इन पांच स्थूल पञ्चा-महाभूतों का आविर्भाव होता है। राजस अहङ्कार से तदनुरूप ही शब्द को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र, स्पर्श को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय त्वक्, रूप को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय चक्षु, रस को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा और गन्ध को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय नासिका तथा मुख, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। सात्त्विक अहंकार से उभयात्मक मन और देवता अधिष्ठाता के रूप में उत्पन्न हुए। सम्मिलित रूप इनसे सूत्रात्मा की उत्पत्ति हुई जिसे लिङ्ग शरीर, सर्वगत महत् कहते हैं।

---

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ३ श्लोक १८ से ४१।

इसी को हिरण्यगर्भ भी कह सकते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति और पुरुष अर्थात् आत्मा—ये दो तत्त्व ही सबके मूल भूत हैं। पुरुष के संयोग से प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। महत् आदि उसके विकार हैं। प्रकृति स्वयं किसी अन्य तत्त्व का विकार नहीं है। अतः, उसे मूलप्रकृति कहते हैं। लिखा है :

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥[1]

अर्थात् मूलप्रकृति किसी अन्य तत्त्व का विकार नहीं है अर्थात् वह किसी अन्य तत्त्व से पैदा नहीं हुई है, अतः उसे मूलप्रकृति कहते हैं। प्रकृति से महत् तत्त्व, महत् से अहङ्कार तथा अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये—पांच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं। महत्, अहङ्कार तथा तन्मात्राएँ स्वयं दूसरे तत्त्वों का विकार हैं, इसलिए विकृति तथा अन्य १६ तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण उन की अपेक्षा से वे प्रकृति हैं। अतः ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों हैं। पञ्च महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्दिय ये पन्द्रह तथा उभयात्मक मन केवल विकृति हैं, अर्थात् ये उर्युक्त तत्त्वों के विकार मात्र हैं, दूसरे किसी तत्त्व को जन्म नहीं देते, अतः इन्हें प्रकृति नहीं कहते। ऊपर केवल प्रकृति, प्रकृतिविकृति तथा १६ केवल विकृति तत्त्व गिनाये गये। सांख्य दर्शन के अनुसार उपर्युक्त २४ तत्त्वों के अतिरिक्त २५वाँ तत्त्व है पुरुष अर्थात् आत्मा जो न प्रकृति है, न विकृति। सांख्य दर्शन उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त किसी देवता या ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, अतः वह निरीश्वर सांख्य कहलाता है। योग दर्शन सांख्य के २५ तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को भी स्वीकार करता है, अतः वह सेश्वर सांख्य कहलाता है। सांख्य मतानुसार पुरुष अर्थात् आत्मा साक्षी रूप में प्रकृति तथा उसके अन्य तत्त्वों से मिला हुआ भी पृथक् है। वह प्रकृति की लीला को देखने वाला प्रेक्षक मात्र है। लिखा है—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं द्रष्टृत्वमकर्तृत्वभावश्च ॥[2]

आत्मा साक्षी, केवल एक, मध्यस्थ, द्रष्टा तथा अकर्त्ता है। वह स्वयं कुछ

२. सांख्यकारिका-३

१. सांख्यकारिका १९।

करता नहीं उसके संयोग से प्रकृति ही लीला दिखाती है जिसका वह मध्यस्थ रूप द्रष्टा है। वेदांत के अनुसार ईश्वर की माया ही प्रकृति है जिसके रूपान्तर अन्य सभी तत्त्व हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार 'विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्' अर्थात् भगवती विष्णु की माया है जिससे सम्पूर्ण जगत् सम्मोहित है।

उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा स्थूल भूत समूह से विराट् की उत्पत्ति हुई तथा उस विराट् पुरुष से सभी स्थावर जङ्गम रूप संसार प्रकट हुआ। ऐसा ही विराट् रूप भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखलाया था जिसका वर्णन गीता के एकादश अध्याय में मिलता है।[१] इस प्रकार काल और कर्म के क्रम से भगवान् देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि रूपों में प्रकट हुए।

भगवान् अपने मायिक गुणों के भेद से रजोगुण द्वारा सबके कारणभूत ब्रह्मारूप, सत्वगुण से सबका पालन करने वाले विष्णुरूप तथा तमोगुण से सबका लय करने वाले रुद्ररूप हुए। बुद्धि के गुणों से अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् से जीवधारी की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ होती हैं किन्तु ईश्वर स्वयं इन तीनों से परे साक्षी, चिन्मय और अव्यय हैं। भगवान् जब सृष्टि लीला करना चाहते हैं तब माया को अङ्गीकार करते हैं और गुणों से युक्त जैसे हो जाते हैं। उनकी माया विद्या और अविद्या भेद से दो रूपों में भासती है। जो प्रवृत्ति मार्ग में निरत हैं वे अविद्या के वशीभूत होते हैं तथा जो निवृत्ति मार्ग निरत, वेदांत के अर्थ के विचारक और भगवद्भक्तिपरायण हैं वे विद्यामय कहे गये हैं। जो अविद्या के वश में हैं वे सर्वदा सांसारिक बने रहते हैं अर्थात् जन्म मरण के फेर में फँसे रहते हैं तथा जो सर्वदा विद्या के अभ्यास में लीन रहते हैं वे नित्यमुक्त हैं। इस लोक में जो लोग भगवद्भक्ति में निरत और तन्त्रमन्त्रोपासक हैं उन्हीं में अर्थात् उन्हीं के अन्त:करण में विद्या का प्रादुर्भाव होता है, दूसरों के हृदय में कभी नहीं। अतः, निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि भगवद्भक्तिसम्पन्न व्यक्ति मुक्त ही हैं, इसमें सन्देह नहीं तथा जो भगवद्भक्तिरूप अमृत से रहित हैं उन्हें स्वप्न में भी मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष का कारण प्रधान रूप से सत्सङ्ग है। इसी क्रम में जिन सन्तों की सङ्गति से मोक्ष साधन सम्भव है, उनका लक्षण बतलाते हुए अगस्त्य जी ने कहा कि सच्चे साधु वे हैं जो समचित्त, निःस्पृह, इच्छा रहित, इन्द्रियनिग्रही, सर्वथा शांतचित्त, भगवद्भक्त, सभी कामनाओं से

---

२. गीता एकादश अध्याय श्लोक ९ से ५०।

निवृत्त, अभीष्ट से लाभ तथा विपत्ति दोनों अवस्थाओं में समभाव रहने वाले, संगविवर्जित, सभी कर्मों से संन्यास लिये हुए अर्थात् सभी कर्मों का त्याग करने वाले, सर्वदा ब्रह्मपरायण, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रणिधान, धारणा, ध्यान, समाधि सम्पन्न तथा जो कुछ मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहने वाले हैं। उन्होंने फिर कहा कि ऐसे साधुजनों का सत्सङ्ग जब हो जाता है तभी भगवत्कथा में प्रेम उत्पन्न होता है और भगवद्भक्ति जाग्रत होती है। इस प्रकार जब सनातन भगवान् की कथा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है तब भक्ति का उदय होता है और भक्ति दृढ़ हो जाने पर भगवान् का स्पष्ट और विपुल अर्थात् पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अगस्त्य जी ने इसी को चतुर जनसेवित मुक्ति का आद्य मार्ग बताया तथा भगवान् से प्रार्थना की कि उनमें उनके प्रति प्रेमलक्षणा सद्भक्ति सर्वदा बनी रहे तथा अन्य भक्तों की श्रद्धा और भक्ति भी ऐसी ही बनी रहे। अन्त में उन्होंने प्रार्थना की कि चलते, फिरते, उठते, बैठते बराबर वे भगवान् का स्मरण करते रहें, ऐसा वर उन्हें मिले।

वन में लक्ष्मण के प्रति राम का अध्यात्मोपदेश

जटायु से भेंट होने के बाद भगवान् राम ने लक्ष्मण के प्रति आध्यात्मिक उपदेश[1] देते हुए सर्व प्रथम माया के स्वरूप का वर्णन किया, पश्चात् ज्ञान और विज्ञान युक्त ज्ञान का साधन बतलाते हुए ज्ञेय परमात्मा का वर्णन किया जिसे जानकर मनुष्य का सर्वविध भय छूट जाता है।

माया का परिचय देते हुए उन्होंने बताया कि शरीर आदि अनात्मा हैं और इन्हें आत्मबुद्धि से देखना अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा समझना ही माया कहा गया है। दूसरे शब्दों में अनात्मा को आत्मा समझना ही माया है और इसी माया से संसार की परिकल्पना की जाती है। माया की विक्षेपरूप और आवरण रूप दो शक्तियां बतायी गयी हैं। विक्षेप ही लिङ्ग अर्थात् महत्तत्व से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभी स्थूल और सूक्ष्म भेदों से सम्पूर्ण संसार की कल्पना करता है। लिखा है।

'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' ॥[2]

अर्थात् विक्षेतक्षक्ति लिङ्ग से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जगत् की सृष्टि करती है। दूसरी आवरण शक्ति सम्पूर्ण ज्ञान का आवरण होकर रहती है अर्थात् ज्ञान को छिपाये रहतो है। माया के कारण मनुष्य संसार का परमात्मा में

---

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ४ श्लोक १९ से ५५।

२. वाक्यसुधा १३।

उसी प्रकार आरोप करता है जिस प्रकार अन्धकार में रस्सी देखने पर लोग उसमें सर्प का आरोप करते हैं। किन्तु जिस प्रकार रस्सी वस्तुत: रस्सी ही है, सर्प नहीं, उसी प्रकार संसार माया है, ब्रह्म नहीं। ब्रह्म ज्ञान में वह माया आवरण रूप है, बाधक है, अनित्य है। विचार करने पर वह कुछ भी नहीं है। इसे अध्यारोप भी कहते हैं। इसकी परिभाषा है, 'असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप:।'[1] सच्चिदानन्द, अनन्त अद्वय ब्रह्म ही वस्तु है। इसके अतिरिक्त अज्ञानादि सकल जडसमूह अवस्तु है। स्वप्न मे जिस प्रकार अनेक मनोरथ होते हैं किन्तु निद्रा भङ्ग होने पर सभी मिथ्या प्रतीत होते हैं उसी प्रकार जो कुछ सुना जाता है, देखा जाता है या जिसका स्मरण किया जाता है वह सब असत् है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' अर्थात् ब्रह्म ही नित्य और संसार मिथ्या है। जीव भी ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं। इसी सिद्धांत के अनुसार जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। उसका भी कहना है कि ब्रह्म ही नित्य है, संसार माया है। अत:, यह अनित्य है। रामानुजाचार्य ने अपने विशिष्टाद्वैत मतका निरूपण करते हुए बताया है कि जगत्, जीव और ईश्वर तीनों ही ब्रह्म के तीन रूप हैं। संसार को सीधे मिथ्या कहना ठीक नहीं। यह भी ब्रह्म रूप ही है। इसे हम देखते हैं, तो सीधे 'नहीं है' ऐसा क्यों कहें। जीव को चाहिये कि वह अनासक्ति भाव से इसका उपभोग करे। गीता में भगवान् कृष्ण ने अनासक्त कर्म मार्ग का उपदेश करते हुए कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥[2]

अर्थात् मनुष्य को कर्म करने का ही अधिकार है। उसके फल में उसका कोई अधिकार नहीं। उसे कर्म फल का कारण नहीं बनना चाहिये। बिना कर्म किये भी उसे नहीं रहना चाहिये। कर्म मनुष्य को करना है और उसका फल भगवान् को देना है। कर्म फल का त्याग कर उसे कर्त्तव्य समझ कर करें तथा फल भगवान् को सौंप दें, यह सर्वोत्तम मार्ग है।

नैष्कर्मसिद्धिका अधोलिखित वाक्य सर्वथा अनुकरणीय है—"नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षुत्वं ततस्तदुपायपर्येषणं ततः सर्वकर्मसन्न्यासस्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानं

---

१. वेदान्तसार ६।

२. श्रीमद्भगवद्गीता २/४०।

ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मान्यवस्थानम्' इति ।[1] उपर्युक्त वाक्य में आत्मस्थ होने की बहुत सुन्दर प्रक्रिया बतायी गयी है। इसमें सर्वप्रथम प्रक्रिया नित्य-कर्म का अनुष्ठान है। नित्य कर्म के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् धार्मिक भावना जाग्रत होती है, धर्मोत्पत्ति से पापक्षय होता है, पापक्षय होने पर चित्त की शुद्ध होती है, एतदनन्तर संसार का याथात्म्य ज्ञान होता है, इस प्रक्रिया से संसार तथा आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वैराग्य होता है। वैराग्य द्वारा मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा होती है। पश्चात् उसके लिए उपाय ढूंढ़े जाते हैं। तब सभी कर्मों से संन्यास हो जाता है। कर्म संन्यास के बाद योगाभ्यास की ओर प्रवृत्ति होती है। अनन्तर चित्तवृत्ति का निरोध होता है। उसके बाद 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों के अर्थ का परिज्ञान होता है। यह परिज्ञान हो जाने पर अविद्या का उच्छेद अर्थात् सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकार की प्रक्रिया द्वारा अविद्या अर्थात् अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाने पर जीव आत्मस्थ हो जाता है अर्थात् आत्म स्वरूप ब्रह्म को पहचान कर ब्रह्म लीन हो जाता है। इस प्रकार 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति' वाक्य चरितार्थ होता है।

भगवान् राम ने यह बताया है कि शरीर ही संसार रूप वक्ष का दृढ़ मूल है तथा उसका मूल पुत्र, दारादि बन्धन है। आत्मा इन से पृथक् है। वह इन बन्धनों से रहित अर्थात् मुक्त है। पांच स्थूल महाभूत, पांच तन्मात्राएं, अहंकार बुद्धि, दशों इन्द्रियां, चिदाभास, मन तथा मूल-प्रकृति इन सभी २५ तत्त्वों का समूह क्षेत्र है। इसी को देह भी कहते हैं। इनमें विलक्षण जीव रूप निर्देश परमात्मा है। वह इन २५ तत्त्वों से पृथक् है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण ने किया है। उन्होंने अर्जुन को बताया—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।[2]

अर्थात् यह शरीर 'क्षेत्रं' कहा गया है तथा इस तत्त्व को जानने वालों ने इसके जानकार को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। वस्तुतः क्षेत्रज्ञ भगवान् ही हैं। यह बात अगले श्लोक से स्पष्ट होती है। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धि-बम्बई संस्कृत सीरिज (i) 52।
२. श्रीमद्भगद्गीता अध्याय १३ श्लोक १ से ६।

अर्थात् सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझो। क्षेत्रज्ञ से यहाँ जीवात्मा का बोध होता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकार सहित प्रकृति को और पुरुष को तत्त्व सहित जानना ही ज्ञान है। यह मत भगवान् कृष्ण का है जिसे उन्होंने उपर्युक्त श्लोक में स्वीकार किया है। तत्त्वों की गणना करते हुए उन्होंने बताया है—

> महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
> इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥

उपर्युक्त श्लोक में बताये गये तत्त्व पहले बताये गये सांख्य दर्शन के तत्त्वों से सर्वथा मिलते जुलते हैं। इस श्लोक में भी अव्यक्त अर्थात् प्रकृति, क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर रूप पाँच महाभूत, बुद्धि, अहंकार, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये २४ तत्त्व बताये गये। इनमें पुरुष जोड़ देने पर सांख्य दर्शन पच्चीस तत्त्वों का उल्लेख हो सकता है। छठे श्लोक में भगवान् कृष्ण ने बताया है—

> इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
> एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

अर्थात् पञ्चम श्लोक में बताये गये २४ तत्त्वों के अतिरिक्त इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल रूप देहपिण्ड, चेतना, धृति-सम्मिलित रूप से ये सभी विकार क्षेत्र रूप में अभिहित हुए हैं। सांख्य-दर्शन के पच्चीसवें तत्त्व पुरुष को अर्थात् आत्मा को, जिसे गीता में क्षेत्रज्ञ कहा गया है, जोड़ देने से तत्त्व विवेचन पूर्ण हो जाता है। इनका ज्ञान प्राप्त करते हुए एक और तत्त्व के रूप में योग के ईश्वर को स्वीकार कर उसका ध्यान निष्काम भाव से किया जाय तो मोक्ष का मार्ग अवश्य प्रशस्त हो जायगा। ईश्वर को अलग तत्त्व योग ने माना है किन्तु आत्मा ही स्वयं ईश्वर रूप है। उसे ही वेदान्त ने ब्रह्म कहा है।

भगवान् कृष्ण के द्वारा बताये गये उपर्युक्त विवेचन के अनुकूल ही भगवान् श्रीराम ने जीव के विज्ञान के साधन बताते हुए कहा कि जीव और परमात्मा पर्याय हैं अर्थात् एक ही हैं। अतः इनमें भेद बुद्धि नहीं होनी चाहिये। वस्तुतः जीव अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है, जो गीता में क्षेत्रज्ञ कहा गया है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वस्तुतः ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जीव और ब्रह्म के एकत्व का बोध हो जाता है, अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और स्वरूप

में आनन्द की प्राप्ति होती है। श्रुति कहती है—'तरति शोकमात्मवित्।'[1], 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'[2] अर्थात् आत्मज्ञानरूप स्थिति में पहुँचने पर शोक दूर हो जाता है और ब्रह्म को समझने वाला स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। जब दोनों में अविच्छिन्न, अभिन्न, तादात्म्य सम्बद्ध है तब भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। अध्यात्म-रामायण में यह जीव परमात्मा, निरामय कहा गया है। अनन्तर उस जीव विज्ञान के कुछ साधन बताये गये हैं। सर्वप्रथम जीव और परमात्मा को पर्याय मानते हुए उनमें भेद बुद्धिके परित्याग का उपदेश दिया गया है।

ऐसी स्थिति में पहुँचने के लिए अभिमान, दम्भ, हिंसा आदि का परित्याग आवश्यक बताया गया है। साथ ही दूसरों द्वारा किए गये आक्षेपों को सहने की शक्ति, सरलता का व्यवहार, मन, वचन और शरीर पर नियन्त्रण तथा सच्ची भक्ति से युक्त गुरु की सेवा आवश्यक है। वाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि, सत्कार्यों में स्थिरता मन, वाणी तथा शरीर का संयम और विषयों के प्रति-निरीहता, अहङ्कारशून्यता, जन्म, बुढ़ापा आदि के कष्टों का विचार, पुत्र, वनिता, धनादि के प्रति अनासक्ति, इष्ट और अनिष्ट दोनों ही अवस्थाओं में चित्त को समभाव में रखना तथा भगवद्भक्ति में अनन्य भाव से लीन होना आवश्यक है। जन समूह से रहित एकान्त स्थान में जन सम्पर्क से विरक्त रहना, आत्मज्ञान प्राप्ति में सदा रत रहना, वेदान्त वाक्यों के अर्थ का मनन करते रहना आवश्यक है। उपर्युक्त साधनों से ज्ञान प्राप्त होता है तथा विपरीत आचरण का विपरीत फल होता है अर्थात् अज्ञान में भटकना पड़ता है। भगवान् राम ने कहा कि ज्ञान वास्तव में वही है जिससे यह बोध हो कि आत्मा बुद्धि, प्राण, मन, अहंकार आदि से विलक्षण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और चेतन है। जिस समय इसका साक्षात् अनुभव होता है उस समय इसी को विज्ञान कहते हैं। आत्मा सर्वदा और सर्वत्र पूर्ण, चिदानन्दात्मक, अव्यय अर्थात् अविनाशी बुद्धि आदि उपाधियों से रहित तथा परिणामादि से विवर्जित है। वह अपने प्रकाश से ही शरीर आदि को प्रकाशित करता हुआ आवरण रहित एक, अद्वितीय, सत्यज्ञानादि लक्षण वाला, संगवर्जित, स्वयंप्रकाश तथा सबका द्रष्टा है। इसका बोध विज्ञान से होता है। आचार्य और शास्त्रों के उपदेश से जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व का ज्ञान जब हो जाता है तब मूल अविद्या अपने कार्य शरीरादि रूप और करण अर्थात् इन्द्रियादि सहित परमात्मा में लीन हो जाता है। इस प्रकार अविद्या अर्थात् अज्ञान की यह लयावस्था ही मुक्ति कही गयी

१. छान्दोग्योपनिषद् ७/१/३
२. मुण्डकोपनिषद् ३/२/९

है। यह मोक्ष की अवस्था आत्मा में उपचार मात्र है। भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से यह विज्ञान बताते हुए कहा कि आत्मा सदा ही मुक्त है। इस मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के साथ परमात्म रूप मोक्ष का वर्णन किया। अन्त में उन्होंने कहा कि भगवद्भक्ति से विमुख लोगों के लिए यह मोक्ष दुर्लभ है। जिस प्रकार आँख होते हुए भी रात्रि के अन्धकार में लोगों को दिखाई नहीं देता और आलोक मिल जाने पर दिखाई देने लगता है उसी प्रकार मेरी भक्ति से युक्त मनुष्य की आत्मा का प्रकाश स्वयं मिल जाता है।

ज्ञान प्रकाश के साधन

एतदनन्तर भगवान् राम ने भक्ति के कुछ तत्त्वयुक्त उपाय बतलाते हुए कहा कि मेरे भक्तों का सत्सङ्ग, मेरी और मेरे भक्तों की सेवा, एकादशी आदि व्रत करना, मेरे पर्व के दिनों को मनाना अर्थात् उत्सव करना, मेरी कथा के श्रवण, पाठ, व्याख्यानादि में सर्वदा प्रेम रखना, मेरी पूजा में परिनिष्ठा तथा मेरे नाम का कीर्त्तन करना आदि आदि यह प्रकाश मिलने में साधक हैं। मुझ में निरन्तर लीन रहने से मेरे प्रति विशुद्ध निश्चल भक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त शेष रहता ही क्या है। उपर्युक्त विधिपूर्वक मेरी भक्ति से युक्त होने पर साधक को ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य शीघ्र हो जाते हैं। अनन्तर उसकी मुक्ति अवश्य हो जाती है। उपर्युक्त उपदेश करते हुए श्री राम ने लक्ष्मणजी को बताया कि तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर मैंने पूर्ण रूप से दे दिये। इस विधान के अनुसार ईश्वर में जो मन लगा देता है वह अवश्य मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। अन्त में भगवान् राम ने कहा कि जो मेरी भक्ति से विमुख है उसे यह ज्ञान नहीं दिया जाय और जो सच्चा भक्त है उसे बुलाकर भी यत्नपूर्वक यह ज्ञान देना उचित है। यह भी बताया गया कि जो व्यक्ति श्रद्धा और भक्ति से युक्त हो प्रतिदिन इसका पाठ करेगा तथा मनन करेगा वह अज्ञानान्धकार से दूर होकर मुक्त हो जायगा। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन को इसी प्रकार का उपदेश देते हुए बताया है कि—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥[1]

अर्थात् यह रहस्यमय गीता का उपदेश कभी भी तपस्या रहित, भक्ति-रहित, इच्छा रहित तथा दोषदृष्टि से विचार करने वालों के प्रति नहीं कहना चाहिये।

---

१. गीता-अध्याय १८, श्लोक ६६।

भगवद्दर्शन के उपाय बताते हुए उन्होंने कहा कि जो उनकी सेवा में अनुरक्त है, जिसका हृदय निर्मल है, जो शान्तात्मा है, जो विमल ज्ञानसम्पन्न है, जो भगवद्भक्तों का संगी है और उनकी सेवा में तत्पर है मुक्ति उसके करतल गत हो जाती है तथा भगवान् सर्वदा उसकी दृष्टि के सम्मुख स्थित रहते हैं। भगवद्दर्शन का यही उपाय है, अन्यथा नहीं।

सीता-हरण तथा राम का माया प्रदर्शन

सीता हरण हो जाने पर भगवान् राम ने माया का प्रदर्शन किया। उन्होंने स्वयं आनन्दस्वरूप होकर भी सीता के लिए शोक किया।[1] मारीच की राक्षसी माया के कारण माया का आश्रय सब को लेना पड़ा। भगवान् राम ने सीता से कहा कि हे जानकि! भिक्षु रूप में रावण तुम्हारे पास आयेगा। तुम अपने आकार की ही अपनी छाया को कुटी में छोड़कर स्वयं अग्नि में प्रवेश कर जाओ और मेरी आज्ञा से वहाँ वर्ष भर रहो। रावण वध के बाद मुझे तुम पूर्ववत् प्राप्त कर लोगी।[2] सीता ने वैसा ही किया अर्थात् माया रूपा सीता को बाहर कुटी में छोड़कर स्वयं अग्नि में अन्तर्हित हो गयीं। यह रहस्य सम्भवत: लक्ष्मणजी भी नहीं जान सके क्योंकि आगे के प्रसङ्ग से इसके सम्बद्ध की उनकी अनभिज्ञता सिद्ध होती है। माया रूपा सीता ने माया विनिर्मित मृगरूपधारी मारीच के रहस्य को देखा। लक्ष्मण भी माया मृग रूपधारी मारीच के रहस्य को प्राय: समझ गये। जगत्प्रपञ्चरूपिणी, लोकमोहिनी, माया जिनके आश्रय में है वे भगवान् राम भी उस मृग रूप माया के पीछे दौड़े। निर्विकार चिदात्मा, पूर्ण होते हुए भी राम माया मृग के पीछे पीछे दौड़े, इससे सिद्ध होता है कि भगवान् भक्तों पर दया करने वाले हैं। भगवान् सब कुछ जानते थे। किन्तु सीता को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने मृग का पीछा किया। ऐसी बात नहीं होती तो पूर्णकाम और आत्मज्ञ परमात्मा राम को मृग अथवा सभी से क्या प्रयोजन। मारे जाने पर मारीच की भी माया जब समाप्त हो गयी तब भगवान् राम के दर्शन मात्र से उसके शरीर से निकला हुआ तेज राम के शरीर में ही प्रवेश कर गया जिसे देख सभी देवता चकित हो गये।[3] वे सोच में पड़ गये कि कौन सा कर्म करके मुनियों का हिंसक यह पातकी उत्तम गति को प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि राघव भगवान् राम की ही यह महिमा है। पहले ही रामबाणों से संविद्ध होकर वह

---

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ३ से ३१।

२. अरण्यकाण्ड सर्ग ७ से श्लोक १ से ५।

३. अरण्यकाण्ड सर्ग ७ श्लोक २०।

उसी समय से उनका स्मरण करता हुआ भय के कारण घर-द्वार, वित्त आदि सबका परित्याग कर हृदय में राम का ध्यान करता रहा जिससे उसके सभी पाप धुल गये और अन्त में राम के द्वारा ही निहत होकर उन्हीं का दर्शन करता हुआ उन्हीं में अन्तर्हित हो गया। इस प्रसङ्ग में ठीक ही कहा गया है—

द्विजो वा राक्षसो वापि पापी वा धार्मिकोऽपि वा।
त्यजन्कलेवरं रामं स्मृत्वा याति परं पदम् ॥[1]

अर्थात् ब्राह्मण हो या राक्षस, पापी हो या धार्मिक, पार्थिव शरीर का त्याग करते समय राम का स्मरण करते हुए परमपद प्राप्त करता है। यहाँ गूढ़ बात यह स्पष्ट होती है कि मारीच जब तक माया में लिपटा रहा तब तक वह राक्षस बना रहा किन्तु जब माया विमुक्त हो गया तब राम में समा गया अर्थात् स्वयं राममय हो गया। इस राक्षस को भी भवबन्धन से मुक्त होते देखकर यह सिद्ध होता है कि जीव को माया ही बन्धन में रखती है। माया हट जाने पर वह परमगति मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अष्टम सर्ग में भी माया और मायावी की चर्चा है। भगवान् राम ने मायावी मारीच को मारकर उसे मुक्त कर दिया। लौटते समय लक्ष्मण को अपनी ओर आते हुए देखकर उन्होंने विचार किया कि लक्ष्मण जी यह नहीं जानते कि वास्तविक सीता का अग्नि में प्रवेश हो गया है और जिस सीता के संरक्षण का भार मैंने उन्हें सौंपा था वह माया रूपा सीता हैं। यह सब उन्हीं की माया का प्रभाव था तो भी सांसारिक बन कर उन्होंने सीता के लिए विलाप किया। उन्होंने स्वयं कहा है कि—

लक्ष्मणस्तन्न जानाति मायासीतां मया कृताम्।
ज्ञात्वाऽप्येनं वञ्चयित्वा शोचामि प्राकृतो यथा ॥[2]

उन्होंने आगे भी बताया—

रावणं सकुलं हत्वा सीतामग्नौ स्थितां पुनः ॥
मयैव स्थापितां नीत्वा यातायोध्यामतन्द्रितः।
अहंमनुष्यभावेन जातोऽस्मि ब्रह्मणार्थितः ॥[3]

अर्थात् मैं सकुल रावण को मार कर अग्नि में अपने द्वारा ही स्थापित सीता को लेकर तुरन्त अयोध्या चला जाऊँगा। ब्रह्माजी द्वारा रावणादि

---

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ७ श्लोक २४।
२. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ३।
३. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ५-६।

आततायी राक्षसों को विनाश के लिए प्रार्थित होकर मैंने यह मनुष्य शरीर धारण किया है। उन्होंने स्वयं बताया कि मेरा यह चरित भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाला जो व्यक्ति सुनेगा, उसे मुक्ति अनयास ही मिल जायगी।[१] सप्तम और अष्टम दोनों सर्गों में माया और उसके प्रभाव का वर्णन करते हुए बताया गया कि माया वस्तुतः सांसारिक है। इसके प्रभाव में आकर जीव अर्थात् मनुष्य सांसारिक बन जाता है और अपने पारमार्थिक स्वरूप को भूल जाता है किन्तु माया से छुटकारा मिल जाने पर मुक्ति लाभ कर लेता है, ब्रह्म रूप में विलीन हो जाता है। इसी बात की पुष्टि के लिए उपनिषदों ने कहा है 'तरति शोकमात्मविद्'[२] अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त व्यक्ति शोक को पार कर जाता है। तात्पर्य यह है आत्मज्ञानी शोक मोहादि से रहित हो जाता है। दूसरा वाक्य है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।[3] अर्थात् ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्म हो जाता है जैसे मारीच ब्रह्म लीन हो गया।

इधर कुटी में सीता को न देखकर भगवान् राम ने माया का प्रदर्शन किया। वे सर्वज्ञ थे तथापि लौकिक रूप में उन्होंने विह्वल हो वनस्पतियों और वनदेवताओं से पूछताछ की। यहाँ प्रकृति का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। भगवान् राम स्वयं अचल हैं तो भी सर्वत्र दौड़ते फिरते और जिज्ञासा करते हैं। ममतारहित, निरहङ्कार, अखण्डानन्दस्वरूप होते हुए भी अत्यन्त दुःखी होकर 'मेरी जाया (पत्नी)', 'मेरी सीता' कह कर विलाप करते हुए स्वयं अनासक्त होते हुए भी माया का अनुसरण करते देखे गये। वस्तुतः वे तो आनसक्त ही हैं किन्तु तत्त्वानभिज्ञ लोगों के लिए वे माया में पड़े हुए आसक्त जैसे प्रतीत होने लगे।[४]

म्रियमाण जटायु को सीता की हत्या करने वाला समझ वे उसे मार डालने के लिए लक्ष्मण जी से धनुपवाण माँगने लगे किन्तु जटायु ने मुँह से रक्त-वमन करते हुए रावण द्वारा सीता हरण का सारा वृत्तान्त कहा और यह भी सूचित किया कि अब मुझ में बोलने की शक्ति नहीं है। अब मैं आपके समक्ष ही प्राणत्याग कर रहा हूँ। जटायु ने भगवान् राम से प्रार्थना करते हुए कहा कि मेरा सौभाग्य है कि शरीर त्याग करते हुए मुझे अन्त समय आपका दर्शन हो रहा है। आप अनघ है, परमात्मा हैं, विष्णु हैं किन्तु मायामनुजरूप धारण

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ७-८
२. छान्दोग्योपनिषद् ७/१/३
३. मुण्डकोपनिषद् ३/२/६
४. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ से श्लोक १३ से २१

किये हुए हैं। हे रघुसत्तम ! अन्त समय भी आपका दर्शन पाकर मैं मुक्त हो गया। अब आप दोनों हाथों से कृपया मेरा स्पर्श करें तब मैं आपका परमपद प्राप्त करूँगा। भगवान् ने मुस्कराते हुए उसके शरीर का स्पर्श किया। जटायु संसार से मुक्त हो गया। उसका पार्थिव शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस स्थान पर भगवान् राम ने पुनः माया का प्रदर्शन किया। उसके लिए बन्धु जैसा शोक करते हुए आँखों से आँसू बहाने लगे और लक्ष्मण के साथ वन से लकड़ी चुनकर उसका दाह-संस्कार किया तथा वन के पक्षियों को भोजन कराते हुए कहा कि सभी पक्षी भोजन करें जिससे पक्षिराट् जटायु की आत्मा तृप्त हो। उन्होंने अन्त में जटायु को आशीर्वाद देते हुए कहा कि हे जटायु, तुम मेरे परमपद को प्राप्त करो। सब किसी के सामने तुम मेरा सारूप्य प्राप्त करो। लोगों के देखते देखते दिव्य विमान पर आरूढ हो जटायु शुभ दिव्यरूप धारण कर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, किरीट आदि सुन्दर आभूषणों से सुसज्जित अपने प्रकाश से ही सभी दिशाओं को प्रकाशमय करता हुआ, पीताम्बर धारण किये वैसे ही वस्त्रादिधारी चार विष्णुपार्षदों से पूजित हो, योगिजनों द्वारा स्तुति किया जाता हुआ हाथ जोड़ कर शीघ्रता में भगवान् राम की स्तुति करने लगा जिससे वे सन्तुष्ट हुए।[1]

जटायु की स्तुति में अध्यात्म

अनन्तर जटायु ने पुनः भगवान् की स्तुति की जिसमें दार्शनिक भाव भरे हुए हैं।[2] इस भक्त के कथनानुसार भगवान् अगणित गुणसम्पन्न, अप्रमेय, जगत् के आदि कारण तथा उसकी स्थिति, संरक्षण, लय आदि के भी कारण हैं। संसार के आदि कारण के सम्बन्ध में दार्शनिकों की सूक्ष्म सूझ बहुत दूर तक पहुँची हुई है। किसी वस्तु के बनने में दो कारण प्रधान रूप से माने गये हैं। एक है निमित्त कारण और दूसरा उपादान कारण। निमित्त कारण वह है जो सम्पादित करे अर्थात् जो कार्य सम्पादन करे। जैसे घट के बनने में कुम्भकार निमित्त कारण हुआ, वैसे ही सृष्टि के होने में ईश्वर निमित्त कारण हुए। सिद्धान्तमुक्तावली के मङ्गलाचरण में ही भगवान् को नमस्कार करते हुए विश्वनाथ पञ्चानन महाचार्य ने उन्हें संसार रूपी महीरुह अर्थात् वृक्ष का बीज बताया है।[3] इस प्रकार सृष्टि के बनने में भगवान् का निमित्त कारणत्व

---

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ४१ से ४५

२. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ४४ से ५६

३. नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥ (सिद्धान्तमुक्तावली)

सिद्ध हुआ। किन्तु कुम्भकार को घड़ा बनाने के लिए जिस प्रकार मिट्टी, बालू, पानी आदि की आवश्यकता होती है जो उपादान कहलाते हैं, उसी प्रकार सृष्टि के होने में भी उपादान की आवश्यकता पड़ती है। यह उपादान क्या है, यह भी दार्शनिकों के सम्मुख विचारणीय प्रश्न उपस्थित हो जाता है। सांख्य दर्शन तो प्रकृति को ही उपादान कारण मानता है। उसकी दृष्टि में पुरुष अर्थात् आत्मा प्रेक्षक रूप में है। यह दर्शन निमित्त कारण किसी को नहीं मानता उसके अनुसार प्रकृति के तीनों गुणों में तारतम्य होने से सृष्टि होती है किन्तु प्रकारान्तर से उसने भी निमित्त कारण स्वीकार किया है। यह निमित्त उसका पुरुष अर्थात् आत्मा है। सांख्य दर्शन का कहना है कि पुरुष के संयोग से तीनों गुणों के माध्यम से प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है जिससे सृष्टि होती है किन्तु पुरुष प्रेक्षक मात्र है; स्वयं कुछ करता नहीं। यह दर्शन कुम्भकार के समान सृष्टि का कर्ता अर्थात् निमित्त कारण नहीं मानता। मुक्तावली तो ईश्वर की सार्वभौम सत्ता स्वीकार करती है। यही स्थिति प्रायः वेदान्त की भी है। उसके अनुसार ईश्वर सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। जिस प्रकार लूता अर्थात् मकड़ा अपने जाल के प्रति निमित्त और उपादान दोनों ही कारण है। मकड़ा अपने शरीर के विकारों से ही स्वयं जाल बनाता है उसी प्रकार परमात्मा अपनी माया से सृष्टि की रचना करता है अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा से उसकी माया सृष्टि की रचना करती है। जिस प्रकार जाल बनाने के लिए मकड़े को अलग से उपकरण जुटाना नहीं पड़ता, वह अपने शरीर से ही निकले हुए उपकरण अर्थात् लाला (लार) से जाल बना लेता है उसी प्रकार ईश्वर को भी कहीं से कुछ लाना नहीं पड़ता। अपनी माया रूपा प्रकृति के माध्यम से वही सृष्टि करता है। आवरण और विक्षेप शक्तिसम्पन्न चैतन्यस्वरूप परमात्मा अपनी प्रधानता के निमित्त कारण और अपनी उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण होता है। जिस प्रकार लूता अर्थात् मकड़ा अपने तन्तुरूप कार्य जाल के प्रति स्वप्रधानतया निमित्त कारण और अपने शरीर की प्रधानता के कारण अर्थात् अपनी उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण होता है। सदानन्दकृत वेदान्तसार में यही बात यों लिखी गयी है—

'शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति यथ लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीर प्रधानतयोपादानं च भवति ॥'[1]

---

१. वेदान्तसार ११

जटायु के अनुसार भगवान् परमात्मा परम शान्तस्वरूप हैं, आनन्दमय हैं, ब्रह्मा इन्द्र आदि के भी दु खों को दूर करने वाले और उन्हें वर देने वाले हैं। सैकड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमय, सबको शरण देने वाले तथा प्रेमीजनों के हृदय में निवास करने वाले हैं। संसार रूप वन के लिए दवाग्नि रूप हैं। देवों के भी देव हैं तथा करोड़ों दनुजेन्द्रों का भी नाश करने वाले हैं। संसार की वासना में संलग्न लोगों से सर्वदा दूर रहने वाले तथा संसार से विमुख रहने वाले मुनियों के लिए सर्वदा दृष्टिगोचर अर्थात् दर्शन देने वाले हैं। भगवच्चरण रूप पोत भवसागर से पार कराने वाले हैं। पार्वती सहित शङ्करजी के मानस मन्दिर में सर्वदा निवास करने वाले हैं। परोपकार परायण हैं। जल से भरे पात्र में एक ही सूर्य का प्रतिविम्ब जिस प्रकार अनेक रूपों में दीख पड़ता है उसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से अनुवृत्त होकर एक ही भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर रूपों में विभासित होते हैं। इस प्रकार भगवान् सभी इन्द्रादि देवताओं के स्तुत्य हो जाते हैं। इस विधि से स्तुति करने पर पक्षिराज जटायु ने ब्रह्म सारूप्य प्राप्त किया।[१] वे ब्रह्म लीन हो गये।

कबन्ध की साकार भक्ति

शापवश कबन्ध रूप में स्थित एक गन्धर्व का जब राम और लक्ष्मण ने उद्धार किया तब वह उनकी प्रार्थना करने लगा जिसके क्रम में आध्यात्मिक चर्चा मिलती है।[२] उसने भगवान् को अनन्त, आदि और अन्त रहित, मन और वाणी के अगोचर अर्थात् इन्द्रियों के अविषय, सूक्ष्म, अव्यक्त, विराट और हिरण्यगर्भ रूप अर्थात् विलक्षण बतलाया। वे योगियों के लिए भी दुर्ज्ञेय हैं। ईश्वर के अतिरिक्त सभी दृश्य जड़, अनात्मा है। अतः, आत्मा से भिन्न यह मन उन्हें कैसे जान सकता है क्योंकि मन तो स्वयं जड़ है। बुद्धि और आत्माभास का ऐक्य ही जीव कहलाता है। इसलिए कहा गया है 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।' अर्थात् जीव ही ब्रह्म है, दूसरा नहीं, बुद्धि आदिका साक्षी ब्रह्म ही है। वह निर्विषय है अर्थात् मन, वाणी आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। लोग उसी निर्विकार, सर्वात्मा में सम्पूर्ण जगत् का आरोप करते हैं। भगवान् का सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ और स्थूल शरीर विराट् कहा जाता है। श्रुति भी कहती है, 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे।' विराट् रूप का दर्शन भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो कराया उसका वर्णन तो गीता के एकादश अध्याय में पूर्ण रूप से मिलता है।[3] भगवान् का सूक्ष्म रूप भावना का विषय है अर्थात् हृदय

१. अरण्यकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ४४ से ५६
२. अरण्यकाण्ड सर्ग श्लोक ३० से ५६।
३. गीता अध्याय ११ श्लोक ५ से ३२

कमलमध्ये ध्यान योग्य है। यह ध्येय रूप ध्यान करने वालों का मङ्गल करने वाला है। इस सूक्ष्म रूप में भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्पूर्ण जगत् अवलोकित होता है।

इसके बाद स्थूल ब्रह्माण्ड का वर्णन किया गया है। स्थूल अण्डकोश अर्थात् ब्रह्माण्ड रूप शरीर महत् आदि सात तत्त्वरूप आवरणों से आवृत है जो धारणा का आश्रयरूप विराट् शरीर है। ये सात आवरण हैं महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्राएँ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के सूक्ष्म अंश।[1] धारणा की परिभाषा के रूप में महर्षि पतञ्जलिका योगसूत्र है 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'[2] अर्थात् विषयान्तर का त्याग कर वस्तु विशेष में चित्त के स्थिरीकरण के धारणा कहते हैं। यहाँ धारणा का विषय भगवान् का विराट् रूप है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित अध्यात्मरामायण के अरण्यकाण्ड के नवम सर्ग के श्लोक ३५ के हिन्दी अनुवाद के क्रम में टिप्पणी की गयी है;

"यहाँ सांख्य तथा पुराण सम्मत इस प्रकार की प्रक्रिया टीका में लिखी है स्वयम्भू (ब्रह्मा) के संकल्प से उत्पन्न चतुर्दश भुवन—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् आदि है, जो स्वयंभू का स्थूल शरीर है। उसके बाहर चारों ओर पृथिवी का आवरण जल है। यह पृथिवी-से दसगुना अधिक है, जल का आवरण तेज, तेज का आवरण वायु, वायु का आवरण आकाश, आकाश का आवरण अहंकार, अहंकार का आवरण महत्तत्व है, इसमें प्रत्येक आवरण अपने आवरणीय पृथिवी आदि से दस गुना बड़ा है। पृथिवी, जल, वायु, आकाश ये सब आवरण यहाँ सूक्ष्म पृथिवी आदि हैं, स्थूल नहीं है।"

आगे बताया गया है कि भगवान् राम ही सर्व कैवल्य अर्थात् एक मात्र मोक्षरूप हैं तथा सभी लोक उनके अवयव हैं। पाताल उनका पादमूल, महातल एड़ी है, रसातल गुल्फ, तलातल जानु सुतल जंघा, वितल ऊरू है, अतल और मही (पृथ्वी) जघन अर्थात् कटि है, भूर्लोक नाभि है, स्वर्लोक वक्षःस्थल है, महर्लोक ग्रीवा है, जनलोक भगवान् का मुख है, तपः लोक शङ्खदेश अर्थात् ललाट है तथा सत्यलोक मस्तक है। इन्द्र आदि दिक्पाल अर्थात् लोकपाल उनकी भुजाएँ हैं, दिशाएँ श्रवण हैं, अश्विनीकुमार नासिका हैं तथा उनका मुख अग्नि है सूर्य उनकी आँख तथा चन्द्रमा मन बताये गये हैं। काल

---

१. 'महदाद्या : प्रकृतिविकृतय: सप्त।' सांख्यकारिका ३

१ योगसूत्र ३/१

उनका भ्रूभङ्ग तथा बृहस्पति उनकी बुद्धि हैं। रुद्र उनका अहंकार, छन्द अर्थात् वेद उनकी वाणी हैं, यम उनकी दंष्ट्रा अर्थात् दाढ़ और नक्षत्रसमूह उनकी दन्त पंक्ति है। उनका हास्य मोह उत्पन्न करने वाली माया है, सृष्टि उनका अपाङ्गमोक्षण अर्थात् कटाक्ष है, धर्म उनका अग्रभाग और अधर्म पृष्ठ भाग अर्थात् पीछे का भाग है। रात्रि उनका निमेष और दिन उन्मेष है। उनकी कुक्षि सातों समुद्र तथा नदियाँ उनकी नाड़ियाँ हैं। वृक्ष और औषधियां उनके रोम हैं, वृष्टि उनका रेत अर्थात् वीर्य है और उनकी महिमा ज्ञान शक्ति है। इस प्रकार भगवान् के स्थूल शरीर का वर्णन किया गया। मनुष्य यदि उनके इस प्रकार के स्थूल रूप में मन का संधारण करे अर्थात् स्थिर करे अनायास ही उसकी मुक्ति सम्भव है। भगवाम् के इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है।

यह वर्णन करते हुए गन्धर्व ने कहा कि मैं आपके इसी स्थूल रूप का सदा ध्यान करता हूँ। इस ध्यान मात्र से शरीर में प्रेमरस का सञ्चार हो जाता है और रोमाञ्च होने लगता है। गन्धर्व ने यह भी बतलाया कि भक्त लोग जब भगवान् के विराट् रूप का ध्यान करते हैं तब उनकी तत्काल मुक्ति हो जाती है किन्तु मैं आपके इस राम रूप का ही ध्यान करूँगा। इसी का चिन्तन मुझे अभीष्ट है। मैं यही चाहता हूँ कि लक्ष्मण और सीता सहित वल्कल विभूषित धनुर्वाण धारी आपके इसी रूप का मैं ध्यान करता रहूँ। पार्वती सहित शङ्कर जी भी आपके इसी रूप का ध्यान करते हैं। काशी में मुमुक्षु लोगों को शङ्करजी तारकमन्त्र (राम) का जप करने की प्रेरणा देते हैं। यह राम नाम ब्रह्मवाचक है। अतः, आप निश्चित रूप से परमात्मा हैं। आपकी माया से विमूढ़ लोग तत्त्वतः आपको नहीं समझते।" अन्त में गन्धर्व ने प्रार्थना की कि भगवान उसकी रक्षा करें ताकि माया उसे फिर न घेर ले। भगवान् राम ने भी उसकी स्तुति और भक्ति से सन्तुष्ट हो उसे योगियों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले अपने परम पद की प्राप्ति का आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम ने जो कुछ कहा वह सब आगमोक्त है। अतः, तुम्हारी यह स्तुति मोक्षप्रद है।

उपर्युक्त गन्धर्व संवाद मूर्तिपूजा का प्रबल समर्थक है। भगवान् के मूर्तरूप का ध्यान किये बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। बिना स्थूल मूर्ति का ध्यान किये हुए चित्त वृत्ति का निरोध नहीं हो सकता। चित्त वृत्ति के निरोध के बिना समाधि अर्थात् योगसाधन सम्भव नहीं है। पतञ्जलि ने भी योग की परिभाषा की है, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। चित्त-वृत्ति के निरोध के बिना मन एकाग्र नहीं हो सकता। बिना मन के एकाग्र

हुए योग सम्भव नहीं। यहाँ गोस्वामी तुलसीदास जी के सम्बन्ध की एक घटना सहसा याद आ जाती है। गोस्वामी जी प्रारम्भिक अवस्था में अपने पास भगवान् की सोने की मूर्ति रखते थे और उसी की पूजा करते थे। एक बार कुछ चोर रात में मूर्ति को चुरा लेने के विचार से उनके पास आये किन्तु उनकी हिम्मत नहीं हुई कि वे मूर्ति के समीप जाये। दूसरे दिन चोर स्वयं तुलसीदास जी के पास गये और उनसे पूछा कि बाबा आप मूर्ति के लिए पहरेदार भी रखते हैं क्या ? गोस्वामी जी ने कहा कि मुझे पहरेदार की क्या आवश्यकता है। चोरों ने कहा कि रात में हम लोग आपके इष्टदेव की मूर्ति चुरा लेने के विचार से आपके पास आ रहे थे किन्तु देखा कि दो व्यक्ति धनुषवाण लिये पहरा दे रहे हैं। हम लोगों की हिम्मत नहीं हुई कि आपके पास जायें। इतना सुनकर तुलसीदास जी ने उन्हें धन्य माना क्योंकि उन्हें चोरी के व्याज से ही धनुषवाण लिये भगवान् के दर्शन हो गये। तुलसीदास जी ने सोचा कि मूर्ति रखने से भगवान् को पहरा देने का कष्ट उठाना पड़ता है। ऐसा सोचकर उन्होंने भगवान् की मूर्ति को मन्दिर में पधरा दिया और तब से भगवान् का ध्यान हृदय कमल के मध्य में करने लगे। यह उदाहरण सिद्ध करता है कि जब तक हमारी चित्तिवृत्ति का निरोध नहीं हो जाता तब तक ईश्वर के प्रति हमारा ध्यान एकाग्र नहीं हो सकता और जब तक भक्ति तथा समाधि की यह स्थिति नहीं आ जाती तब तक ध्यान करने के लिए हमें स्थूल मूर्तरूप की आवश्यकता है। जब हम भगवान् का ध्यान एकाग्रचित्त से हृदय कमल के भीतर करने लगें तब बाहरी मूर्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रक्रिया से भगवद्रूप का ध्यान करते करते हम स्वयं तद्रूप हो सकते हैं जो मोक्ष की स्थिति है। ऐसी अवस्था को पहुँचा हुआ मनुष्य यदि जीवित रहता है तो वह जीवन्मुक्त कहलाता है। अन्त में भगवान् राम ने गन्धर्व को मनोवांच्छित वर दिया और वह सूर्य के समान तेज वाले रथ पर आरूढ़ हो परमधाम को गया।

भक्ति से मुक्ति

शबरी से बातें करते हुए भगवान् राम ने स्वयं कहा कि भगवत्प्राप्ति का साधन सबसे बढ़कर भक्ति ही है।[1] पुरुष या स्त्री होना या जातिविशेष का होना या आश्रम विशेष का होना भगवत्प्राप्ति के कारण नहीं हो सकते। उसी प्रकार यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन आदि भी उसके कारण नहीं हो सकते। एतदर्थ भक्ति ही सर्वोपरि है। भक्ति विमुख लोगों को भगवत्प्राप्ति नहीं हो

१. अरण्यकाण्ड सर्ग १० श्लोक २० से ३१ तथा ४३ से ४४

सकती। इसके बाद भगवान् राम ने शबरी को संक्षेपत: भक्ति का साधन बताते हुए कहा कि सर्वप्रथम साधन सत्संग है। द्वितीय साधन है भगवत्कथा कीर्तन। तृतीय साधन है भगवद्‌गुणगान अर्थात् उनके गुणों की चर्चा करना। चौथा साधन है भगवान् द्वारा उच्चारण की गयी वाणी की व्याख्या करना। पाँचवाँ साधन है निष्कपट भाव से गुरु की सेवा करना। षष्ठ साधन है पवित्र शीलता, यम, नियमादि का पालन और प्रतिदिन भगवत्पूजनादि कर्म निष्ठा। सप्तम साधन है भगवन्मन्त्र की साङ्गापाङ्ग उपासना। आठवाँ साधन है भगवद् भक्तों के प्रति भगवान् की पूजा से भी अधिक पूजा और सम्मान-प्रदर्शन, सभी जीवों के प्रति भगवद्भावना, बाह्य वस्तुओं से वैराग्य और शम, दम, तितिक्षा आदि से सम्पन्न होना। नवम और अन्तिम साधन है तत्त्व चिन्तन। किसी भी योनि में कोई क्यों न हो किन्तु यदि वह उपर्युक्त ९ साधनों से सम्पन्न है तो उसमें प्रेम-लक्षणा भक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार भक्ति उत्पन्न हो जाने पर भगवत्स्वरूपका अनुभव भक्त को होने लगता है और ऐसी स्थिति में पहुँच जाने पर इसी जन्म में उसकी मुक्ति हो जाती है। अत: यह सिद्ध है कि मोक्ष का कारण भक्ति है। अन्त में भगवान् राम की अनुमति प्राप्त कर शबरी ने अग्नि में प्रवेश किया और उसे मोक्ष प्राप्त हुआ। राम के चिन्तक अन्य लोग भी इस मार्ग का अनुसरण कर मुक्त हो सकते हैं।

राम के प्रथम दर्शन के समय हनुमान्

किष्किन्धाकाण्ड के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में ही भगवान् राम और लक्ष्मण का परिचय प्राप्त करने के लिए सुग्रीव द्वारा प्रेषित दूत हनुमान् ने जानकारी न होते हुए भी अनुमान से उन्हें भगवदवतार ही समझ कर जिज्ञासा प्रारम्भ की।[1] विनम्र भाव से उन्होंने पूछा कि सूर्य के समान सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए आप दोनों कौन हैं ? मेरे मन में तो अनुमान होता है कि आप दोनों तीनों लोकों के कर्त्ता हैं। इसके कारण के रूप में स्वयं जगन्मय प्रधान और पुरुष हैं। (सांख्यदर्शन में प्रकृति को प्रधान कहा गया है।) पृथ्वी का भार हटाने अर्थात् उतारने के लिए तथा भक्तों का पालन करने के लिए लीलावश अपनी माया से मनुष्य का रूप धारण कर विचरण कर रहे हैं। उन्होंने पुन: कहा कि क्षत्रियकुमार के रूप में आप दोनों लीला से ही संसार की सृष्टि, स्थिति और लय अर्थात् दुष्ट-दमन के लिए उद्यत हैं। मेरी समझ में तो आप दोनों यहाँ सब के हृदय में स्थित स्वतन्त्र, सबके प्रेरक स्वयं

१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १ श्लोक ११ से १६

नरनारायण ही विचरण कर रहे हैं। हनुमान् के वचनों को सुनकर रामचन्द्र जी ने व्याकरण से पुष्ट उनकी वाणी की प्रशंसा लक्ष्मण जी से की तथा हनुमान् जी को अपना परिचय दिया और स्वयं उनका परिचय पूछा।

सुग्रीव द्वारा भक्ति का महत्त्व वर्णन

सात ताल वृक्षों को एक ही निशाने में एक ही प्रहार से छेद कर बाण को पुनः भगवान् राम के तूणीर से आया हुआ देखकर सुग्रीव ने उनकी स्तुति करते हुए कहा कि हे देव ! आप जगत् के नाथ परमात्मा हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। मेरे पूर्वकृत पुण्यों का ही यह फल है कि आज आपसे मेरा साथ हुआ। संसार से मुक्ति के लिए महात्मा लोग आपकी उपासना करते हैं।[१] बड़े भाग्य से आपके दर्शन हुए। आज मेरा अनादि अविद्याजन्म बन्धन कट गया। संसार-बन्धन यज्ञ, दान, तप तथा अभीष्ट सिद्धि के लिए किये गये कर्म से नहीं छूटता वल्कि यह अधिक दृढ़ ही होता है किन्तु आपके चरणों के दर्शन से वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। क्षण भर भी जिसका चित्त भगवान् में स्थिर होकर ठहरे तो तत्क्षण अनर्थों का मूल उसका अज्ञान नष्ट हो जाय। अतः, सुग्रीव ने श्री राम से प्रार्थना की कि मेरा मन सदा आप ही में लीन रहे, अन्यत्र न जाय। राम राम की मधुर वाणी जिसके मुख से निकलती रहे वह यदि ब्रह्मघाती हो या मद्यप हो, सभी पापों से मुक्त हो जाता है। अतः, सुग्रीव ने प्रार्थना की कि न मुझे विजय चाहिये, न वनितादि सुख ही चाहिये, मुझे केवल आपके प्रति भक्ति की ही आकांक्षा है, जो संसार बन्धन से मुक्ति कराने वाली है। सुग्रीव ने संसार को भगवान् की माया द्वारा सृष्ट और अपने को उन प्रभु का अंश बताया। उनसे प्रार्थना करते हुए कहा कि अपने चरण कमलों के प्रति भक्ति का आदेश देकर भवसंकट से मेरी रक्षा करें। सुग्रीव के कथनानुसार भगवद्दर्शन के पूर्व अर्थात् माया से आवृत रहने पर मित्र, शत्रु और उदासीन दिखाई पड़ते हैं किन्तु दर्शन हो जाने पर अर्थात् माया हट जाने पर सब कुछ ब्रह्ममय ही मालूम होने लगता है। ऐसी स्थिति में कहाँ मित्र और कहाँ शत्रु। जब तक जीव माया में लिपटा रहता है तब तक सत्त्व, रजस् और तमस् रूप उसके गुणों की विशेषता का प्रभाव उस पर रहता है अनेकत्वका भाव रहता है तथा अज्ञानवश कालकृत अर्थात् मृत्यु का भय रहता है। अतः, जीव अविद्या की उपासना करता है अर्थात् माया के वश में रहता है। घोर अन्धकार में डूबा रहता है। मूलरूप है—'अतोऽविद्यामुपास्ते

१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १ श्लोक ७६ से ९३

य: सोऽन्धे तमसि मज्जति ।'[1] इसके अनुरूप ही उपनिषद् वाक्य है —

'अन्धं तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।।'[2]

अर्थात् जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। पुत्र, कलत्र आदि बन्धन माया से ही उत्पन्न हैं अत:, सुग्रीव ने प्रार्थना की कि भगवान् राम अपनी दासी माया को उनसे अलग कर दें। अन्त में सुग्रीव ने उन से अनुरोध किया कि वे ऐसी प्रेरणा दें कि उन्हीं के चरण कमलों में उसकी चित्तवृत्ति सदा लीन रहे, वाणी उनके नाम के कीर्तन और उनकी कथा में ही सदा लगी रहे, दोनों हाथ उनके भक्तों की सेवा में सदा निरत रहें और सभी अंग उनके अङ्गों में लीन रहें, सभी अङ्गों द्वारा भगवान् के अङ्गों की सेवा सर्वदा होती रहे। नेत्र सदा उनकी मूर्ति, भक्तों और अपने गुरु के दर्शन में लगे रहें, काम सर्वदा भगवान् के विभिन्न अवतारों तथा उनके कर्मों की कथा का श्रवण करते रहें तथा उसके पैर सदा भगवान् के मन्दिरों की यात्रा करते रहें। उसके सभी अङ्ग उन के चरण रजसे मिश्रित तीर्थों की मिट्टी, जल आदि को धारण करें तथा वह सदा भगवान् राम के उन चरणों पर नतमस्तक रहे जिन चरणों की सेवा श्री शङ्कर, ब्रह्मा आदि देवता भी सदा किया करते हैं। भगवान् राम ने उसे वैसा ही वर दिया जिससे उसके सभी पाप दूर हो गये और वह मोक्ष का अधिकारी हो गया।

बालि का मोक्ष और तारा को उपदेश

बालि ने भी भगवान् का परिचय प्राप्त हो जाने पर किये गये अपराधों के लिए क्षमा-याचना की और कहा कि बड़े बड़े योगियों के लिए भी आपका दर्शन दुर्लभ है किन्तु मेरा सौभाग्य है कि आपके सम्मुख ही मैं प्राणत्याग कर रहा हूँ। मरने के समय जिनका नाम लेने मात्र से ही जीव परम पद को प्राप्त कर लेता है वे भगवान् आप साक्षात् मेरे सम्मुख उपस्थित है।[3] अत:, आप कृपया मेरे घाव से वाण निकाल दें। ऐसा कहने पर भगवान् राम ने वाण निकाल कर अपने हाथ से उसका स्पर्श किया और वह वानर-शरीर का त्याग कर तत्क्षण इन्द्र रूप हो गया। इस प्रकार वह परम श्रेष्ठ पद को प्राप्त हुआ जिसकी प्राप्ति परमहंसों के लिए भी अत्यन्त कठिन है।

बालि की परमपद प्राप्ति के बाद तारा ने विलाप करना प्रारम्भ किया

---

१. किष्कन्धाकाण्ड सर्ग १ श्लोक ६०

२. ईशावास्योपनिषद् ।। ६ ।।

३. अध्यात्मरामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग २ श्लोक ६५ से ७१

तब भगवान् राम ने उससे पूछा कि[1] तत्त्वतः विचार करके बताओ कि तुम्हारा पति यह देह है या जीव ? यदि यह देह ही तुम्हारा पति है तो क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर इन पाँचों महाभूतों से बना हुआ त्वक् (चमड़ा), मांस, रुधिर तथा हड्डियों वाला और काल, कर्म तथा गुणों से उत्पन्न यह शरीर तुम्हारे सामने है। यदि तुम जीव को आत्मा (अपना पति) समझती हो तो वह न जन्म लेता है, न मरता है, न स्थित ही है, न वह आता है, न जाता है। न वह पुरुष है, न नपुंसक है। वह सर्वव्यापी और अव्यय है। वह अद्वितीय अर्थात् एक ही आकाश के समान निर्लेप, नित्य, ज्ञानमय और शुद्ध है। अतः, शोक करने योग्य नहीं है। गीता में लिखा है[2]—

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

इसकी पुष्टि में कठोपनिषद् का मन्त्र है[3]—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते॥

इतना सुनने के बाद तारा ने श्री राम से पूछा कि देह तो काष्ठ के समान अचित् अर्थात् जड़ है तथा जीव नित्य और चैतन्य रूप है तो सुख दुःख आदि से सम्बन्ध किसको होता है[4]। भगवान् राम ने उसके प्रश्न का उत्तर

१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ३ श्लोक १३ से १६
२. गीता अध्याय २ श्लोक २०, २२
३. कठोपनिषद् अध्याय १ वल्ली २ मन्त्र १८, १९
४. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ३ श्लोक १७ से ३७

देते हुए बताया कि जब तक शरीर और इन्द्रियों के साथ अङ्कारादि सम्बन्ध है अर्थात् जब तक "मैं हूँ और ये सब मेरे हैं" ऐसा भान होता रहेगा तब तक जीव आत्मा और अनात्मा के विवेक से शून्य रहेगा तथा उसका सुख और दु.ख युक्त संसार से सम्बन्ध रहेगा। जिस प्रकार विषयों का ध्यान करते रहते हुए मनुष्य को स्वप्न में अनेक पदार्थ दिखाई पड़ते हैं पर वस्तुत: वे मिथ्या हैं उसी प्रकार आत्मा में मिथ्यारोपित संसार स्वयं विनिर्वतित नहीं इसके लिए ज्ञान रूप प्रकाश आवश्यक है। अनादि अविद्या तथा उसके कार्य अहङ्कार के सम्बन्ध से स्थिति अर्थात् अस्तित्व प्राप्त यह संसार अपार्थक अर्थात् मिथ्या होते हुए भी राग द्वेष आदि से पूर्ण है। मन ही संसार है और बन्धन भी मन ही है। आत्मा और अनात्म मन दोनों जब समानता को प्राप्त होते हैं तब आत्मा अनात्मरूप मनोगत सुख दु:ख आदि बन्धन में पड़ता है अर्थात् आत्मा उन सुख दु:खादि का अपने में ही अनुभव करने लगता है जिसका उनसे कोई सम्बन्ध नही है। जिस प्रकार शुभ स्फटिकमणि आलक्तक आदि के सम्पर्क में आने पर रक्त वर्ण का मालूम पड़ता है किन्त वस्तुत: वह स्वच्छ श्वेत वर्ण का है उसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय आदि के सम्पर्क में रहने से आत्मा को बलात् संसार की प्रतीति होती है अर्थात् वह भी तद्रूप जैसा ही प्रतीत होता है किन्तु वस्तुत: वह स्फटिकमणि के समान विशुद्ध है, संसार से उसका कोई संसर्ग नहीं। आत्मा अपने लिङ्ग अर्थात् परिचायक मनको ग्रहणकर अर्थात् स्वीकार कर उससे उत्पन्न कामादि विषयों का सेवन करता हुआ उसके गुणों में आबद्ध होकर अवश हो संसार में फँसा रहता है। प्रारम्भ में मन के राग-द्वेष आदि गुणों की सृष्टि करता है, पश्चात् अनेक प्रकार के कर्म करता है। वे कर्म सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के अनुरूप क्रमश: शुक्ल, लोहित और कृष्ण होते हैं। शुक्ल कर्म जप, ध्यान. पूजनादि, लोहित हिंसा आदि से युक्त यज्ञादि तथा कृष्ण मद्यपान प्रभृति पाप कर्म रूप हैं। इन कर्मों के अनुरूप ही जीव की गतियाँ भी होती हैं। इस प्रकार कर्म के वश में होकर जीव भ्रमण करता रहता है। उसका वह भ्रमण प्रलय काल पर्यन्त चलता रहता है। सबका उपसंहार हो जाने पर अर्थात् प्रलय के साथ सबका लय हो जाने पर भी वह अपने कर्त्ता और भोक्तापन के अभिनिवेश से अपने कर्मों तथा वासनाओं से अनादि अविद्या के वशीभूत रहता है। नवीन सृष्टि के समय वही घटी यन्त्र के समान अपनी पूर्व वासनाओं से युक्त मन के साथ पुन: उत्पन्न हो जाता है। जब कभी पुण्य विशेष के कारण शान्तचित्त भगवद्भक्तों की

सत्सङ्गति प्राप्त करता है तब उसकी मति भगवान् की ओर फिरती है और उसमें भगवत्कथा श्रवण के लिए दुर्लभ श्रद्धा उत्पन्न होती है इस प्रकार कथा श्रवण करते करते अनायास उसे भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उसके बाद आचार्य की कृपा से वाक्यार्थ ज्ञान अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ का ज्ञान उसे शीघ्र हो जाता है। वह समझ जाता है कि वह भी अर्थात् उसका आत्मा ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान हो जाने पर वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इस स्थिति में पहुँचने पर वह समझ जाता है कि देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, अहंकारादि से वह सर्वथा पृथक् है। यह समझ जाने पर कि वह सच्चिदानन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा अर्थात् स्वयं परमात्मा है, तत्क्षण सर्वथा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार समझते हुए भगवान् राम ने तारा से कहा कि मैंने तुझे इस तथ्यरूप सत्य का ज्ञान कराया। जो व्यक्ति इसका अहर्निश मनन करता है उसके पास सांसारिक दुःख कभी नहीं आते। अतः, तुम भी विशुद्ध हृदय से इसका मनन किया करो। सांसारिक दुःख जाल तुम्हारे पास फटकने न पायेंगे और तुम कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाओगी। उन्होंने यह भी बताया कि ताराने पूर्व जन्म में उनकी उत्कृष्ट भक्ति की थी, अतः उन्होंने उसके मोक्षके लिए उसे अपने रूप का दर्शन कराया और उपदेश दिया कि मेरे रूप का सर्वदा ध्यान करती हुई तुम प्रवाहके रूप में प्राप्त कर्मों को करती हुई भी उनसे लिप्त नहीं हो सकती। यह अन्तिम उपदेश गीता के निष्काम कर्म योग से मिलता जुलता है। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान् कृष्ण ने कहा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

तात्पर्य यह है कि मनुष्यको असक्त हो अर्थात् निर्लिप्त होकर सर्वदा कार्य करते जाना चाहिये। संसार से निर्लिप्त हो कार्य करते रहने से परम पद की प्राप्ति होती है। भगवान् राम के उपर्युक्त वाक्यों को सुनकर तारा अत्यन्त विस्मित हो गयी तथा देहाभिमान जनित शोक का त्याग कर उन्हें नमस्कार किया आत्मानुभव से सन्तुष्ट हो वह जीवनमुक्त हो गयी।

भगवान् राम ने तारा को जो उपदेश दिया उसे सुग्रीव भी सुन रहे थे। उनके भी समग्र अज्ञान दूर हो गये। जब वे स्वस्थचित्त हो गये तब उन्होंने उन्हें भाई बाली का विधि पूर्वक संस्कार करने का आदेश दिया।

---

१. गीता अध्याय ३ श्लोक १९

क्रिया योग

लक्ष्मण जी ने क्रिया मार्ग से भगवदाराधना का विधान भगवान् श्री रामचन्द्र जी से पूछा। उत्तर में उन्होंने कहा कि भगवत्पूजा के विधान का कोई अन्त नहीं है, फिर भी संक्षेप में क्रमशः सुना रहा हूँ।[३५] उपनयन संस्कारादि के अनन्तर गुरु से दीक्षा लेकर उनके द्वारा बताये गये मार्ग से भगवदाराधना करनी चाहिये। भगवत्सेवा पूजा हृदय में, अग्नि मे, प्रतिमा आदि में, सूर्य में या सावधान हो शालिग्राम शिला में ही करनी चाहिये। शरीर की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम प्रातःकाल वैदिक तान्त्रिक मन्त्रोच्चारण पूर्वक शरीर में मृत्तिका लेपनकर स्नान करना अपेक्षित है। अनन्तर नियमपूर्वक सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्म करना चाहिये। विद्वान् व्यक्ति को चाहिये कि कर्मों की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम संकल्प करे। पश्चात् भगवद्भावना से गुरु की पूजा करे। यदि शिला रूप में भगवान् की पूजा करनी हो तो उसे स्नान करावे और यदि प्रतिमा में पूजा करनी हो तो उसका मार्जन ही करना चाहिये। गन्ध पुष्प आदि से भगवत्पूजा सिद्धिदायिनी होती है। सब प्रकार से छल प्रपञ्च का त्याग करते हुए गुरूपदिष्ट विधि से नियत व्रत पूर्वक पूजा होनी चाहिये। प्रतिमा आदि को अलङ्कृत करना भगवान् को अधिक प्रिय है। अग्नि मे पूजा हविष्य अर्थात् घी आदि आहुति के माध्यम से करें। सूर्य की पूजा वेदी पर उनका आकार बनाकर करें। भक्त द्वारा श्रद्धा से समर्पित जल भी भगवान् को बहुत प्रिय होता है; भक्ष्य, भोज्य, गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि की तो बात ही दूसरी है। इस प्रकार पूजा की सभी वस्तुएँ एकत्र कर पूजन कर्म प्रारम्भ करना चाहिये।

पूजा विधि बताते हुए भगवान् राम ने कहा कि सर्व प्रथम कुश, मृगचर्म, वस्त्रादि बिछा कर उसपर शुद्ध मन होकर इष्टदेव के सम्मुख बैठे। पश्चात् बहिर्मातृका और अन्तर्मातृका न्यास, तब केशवादि नामों का न्यास, तत्त्वन्यास भगवन्मूर्त्ति में पञ्जरन्यास तथा मन्त्रन्यास करना चाहिये। भगवान् की मूर्त्ति आदि में आलस्यरहित हो न्यास करना उचित है। अपने आगे वाम भाग में कलश स्थापन करे तथा दाहिनी ओर पुष्प आदि रखे। अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क, आचमन आदि के लिए चार पात्र रखे। पश्चात् सूर्य के समान विमल हृदयकमल में जीव नाम की भगवत्कला का ध्यान करे तथा अपने सम्पूर्ण शरीर को उस कला से व्याप्त रूप मे देखे। प्रतिमा आदि में भगवान् की उसी कला का नित्यप्रति आवाहन करे। पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र,

आभूषण आदि से अथवा यथोपलब्ध सामग्री से मायारहित हो अर्थात् निष्कपट भाव से इष्ट देव भगवान् की पूजा करे। यदि धन हो तो कर्पूर, कुंकुम, अगरु, चन्दन तथा उत्तम सुगन्धित पुष्पों से मन्त्रोच्चारण पूर्वक अर्चना करे। नीराजन, यदि हो सके तो पाँच बत्तियों की आरती, धूप, दीप, अनेकविध नैवेद्य आदि से दशावरण पूजन विधि से अर्चन करे। भगवान् श्रद्धा के आकांक्षी हैं, अतः सभी वस्तुएँ श्रद्धा से संगृहीत कर मन्त्रों का ज्ञाता विधि-पूर्वक समर्पित करे तथा हवन करे। शास्त्रविधि के ज्ञाता को चाहिये कि अगस्त्य मुनि द्वारा प्रदर्शित मार्ग से कुण्ड निर्माणकर गुरु से प्राप्त मन्त्र से अथवा पुरुषसूक्त से आहुति दे। अथवा अग्निहोत्र विधि से प्रज्वलित अग्नि में चरु और हविष से हवन करे। बुद्धिमान हवनकर्त्ता को चाहिये कि वह आहुति देते समय सुवर्ण कान्तिवाले दिव्याभरणभूषित यज्ञपुरुष के रूप में परमात्मा का ध्यान सर्वदा करता रहे। अनन्तर पार्षदों को बलि देकर हवन कर्म समाप्त करे।

हवन समाप्त होने के बाद संयत वाणी से अर्थात् जिह्वा आदि पर नियन्त्रण रखते हुए भगवान् का ध्यान करता हुआ जप करे। पुनः एलाचूर्णादि मुखवास तथा ताम्बूल अर्पित करे तथा भगवान् को प्रसन्न करने के लिए नृत्य, गीत स्तुतिपाठ आदि का आयोजन करे। अन्त में इष्टदेव का ध्यान करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे। प्रसाद को भगवत्प्रदत्त समझ कर ग्रहण करे अर्थात् ऐसी भावना से शिर पर धारण करे तथा दोनों हाथ जोड़-कर भगवान् के चरणकमलों पर भक्तिभाव से मस्तक रखे और यह कहते हुए कि 'हे भगवन्! घोर अन्धकार रूप संसार से मेरी रक्षा करें', पुनः नमस्कार करें। इस प्रकार की सविधि अर्चन कर विसर्जन करे। भगवान् राम ने यह भी बताया कि यदि कोई उपर्युक्त प्रकार से उपासना करे तो उनकी कृपा से इहलोक और परलोक दोनों में उसे सिद्धि मिलती है। यदि भगवद्भक्त प्रति दिन निष्ठापूर्वक उनकी पूजा करे तो वह उनका सारूप्य प्राप्त कर लेता है, इसमें सन्देह नहीं। भगवान् राम ने यहाँ तक कहा कि यह परमपावन सनातन रहस्य उन्हीं ने स्वयं अपने मुख से कहा है। जो सर्वदा इसका पाठ करता या सुनता है उसे सम्पूर्ण पूजा का फल मिलता है।

स्वयंप्रभा का भक्तिभाव

स्वयंप्रभा ने भगवान् राम को माया से परे, सभी भूतों में अन्तर्बहि-

---

१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ४ श्लोक ११ से ३९

विद्यमान, योगमाया रूप जवनिका से आच्छन्न, मनुष्यरूप धारण किये हुए बताया।[1] यह स्वयंप्रभा भगवान् राम के दर्शन की आकांक्षा से हजारों वर्षों से तप कर रही थी। जिस प्रकार बनावटी माया रूप धारण किये हुए मायावी को लोग नहीं देख सकते उसी प्रकार अज्ञानोपहत चैतन्य वालों के लिए भगवान् का वास्तविक रूप अदृश्य है। महाभागवतों अर्थात् भगवद् भक्तों को भक्तियोग की विधि बताने के लिए भगवदवतार होता है। तामसी लोग उस रूप को नहीं देख सकते अर्थात् भगवत्तत्व को समझ नहीं सकते। स्वयं प्रभाने यह भी बताया कि भगवान् के चरणयुगल का दर्शन मोक्ष-दायक, संसार रूपी समुद्र से पार कराने वाला तथा सन्मार्ग पर ले जानेवाला है। भगवान् आदिपुरुष, अकिञ्चनधन, आदि-मध्य-अन्तरहित, कालरूप से सबका नियन्त्रण करने वाले, सर्वत्र समान भाव से विचरण करने वाले परम पुरुष हैं। वे जो लीला करते हैं उसका मर्म साधारण लोग नहीं समझ सकते। उनका न कोई प्रिय है न अप्रिय, न उदासीन भाव वाला ही कोई है। अपितु उनकी माया से ही लोगों के अन्तःकरण पिहित अर्थात् आवृत है, अतः जिसकी जैसी भावना है, उन्हें वैसा ही देखता है। गीता में भी भगवान् कृष्ण का कहना है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

अर्थात् मैं सभी जीवों में समान रूप से हूँ। न मेरा कोई द्वेष्य अर्थात् शत्रु है न कोई प्रिय है। जो भक्ति पूर्वक मुझे भजता है वह मुझ में है अर्थात् मेरे हृदय में उसका स्थान है और ऐसे लोगों के हृदय में मेरा भी स्थान है। भगवान् कृष्ण ने गीता में अन्यत्र[1] भी कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

तुलसीदास जी का भी कहना है—'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।'[1] भगवान् तो अजन्मा, अकर्त्ता और ईश्वर है तो भी देव, मनुष्य और तिर्यक् योनि में उनका आर्भाव उनकी महती लीला है। भगवान् के अवतार का उद्देश्य बताती हुई प्रभा की उक्ति है कि कुछ लोग कथा श्रवण की सिद्धि के लिए, कुछ लोग राजा दशरथ की तपस्या के फल-प्रदान के लिए, कुछ लोग कौसल्या द्वारा प्रार्थना किये जाने पर तथा कुछ लोग दुष्ट राक्षसों को मार कर पृथ्वी का भार हरण करने के लिए विभु परमात्मा का अवतार

---

१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ६ श्लोक ५३ से ८४

मानते हैं। इस प्रकार परब्रह्म परमेश्वर के मनुष्य रूप में अवतार का लक्ष्य लोग भिन्न भिन्न बताते हैं। सबका कहना उचित ही है। भगवान् के चरण कमल भवसागर से पार करने लिए नौका रूप हैं। अन्त में प्रभा ने राम से कहा कि आपकी माया में लिप्त मैं आपको कैसे जान सकती हूँ अथवा आपकी स्तुति कर सकती हूं, क्योंकि आप तो विभु रूप हैं। उसने उनसे मनसा, वाचा, कर्मणा भगवद्भक्ति का वर माँगा। भगवान् राम ने उससे कहा कि तुम बदरिकाश्रम जाकर वहीं मेरी उपासना करो ; उपासनारत ही तुम पञ्चमहाभूतों से निर्मित इस शरीर का त्याग कर परम पद अर्थात् मोक्ष प्राप्त करोगी। उसने तदनुसार ही किया और परम पद को प्राप्त हुई।

अङ्गद को हनुमान् द्वारा अध्यात्मोपदेश

सीता की खोज में भेजे गये वानरों का जब एक मास का समय बीत गया तब सभी व्याकुल हो अङ्गद को भयभीत करने लगे किन्तु हनुमान् जी ने उन्हें समझाया और सबका परिचय देते हुए कहा कि[1] राम न मनुष्य हैं न देवता हैं अपि तु वे साक्षात् अव्यय अर्थात् निर्विकार नारायण हैं, सीता जनसम्मोहकारिणी भगवती माया हैं, लक्ष्मण भुवनाधार साक्षात् फणीश्वर शेषनाग हैं। ये सभी ब्रह्मा जी की प्रार्थना के अनुसार मनुष्य रूप धारण किये हुए लोक की रक्षा के लिए अवतरिव हुए हैं। अपने को तथा वानरों को उन्हीं की माया से उत्पन्न वैकुण्ठवासी भगवान् का पार्षद बतलाया और यह भी कहा कि हम लोग इस जन्म में भी माया से उन्हीं की सेवा करके पुन: वैकुण्ठ में जाकर सुख पूर्वक निवास करेंगे।

सम्पाति को चन्द्रमा मुनि द्वारा उपदेश

सम्पाति को पक्ष हीन देखकर चन्द्रमा मुनि ने उसे अध्यात्मोपदेश[२] करते हुए कहा कि दु:खों की जड़ शरीर ही है और शरीर कर्म से उत्पन्न हुआ है। जब मनुष्य को अपने शरीर के प्रति अहंभाव उत्पन्न होता है अर्थात् जब वह शरीर को ही मैं, अर्थात् आत्मा मानने लगता है तब कर्म की ओर उसकी वृत्ति होती है। अविद्या से उत्पन्न जड़ यह अहंकार अनादि है। तप्त लौहपिण्ड के समान यह अहङ्कार चिच्छाया अर्थात् चिदाभास से सर्वदा व्याप्त रहता है। चिदाभासयुक्त अहङ्कार शरीर से तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण

---

१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ७ श्योक १६ से २२
१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ८ श्लोक १२ से ४७

अर्थात् दोनों में ऐक्य होने के कारण शरीर चैतन्ययुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'मैं देह हूँ' इस प्रकार की बुद्धि अहङ्कार के कारण ही आत्मा को होती है और इसी कारण से सुख दुःख आदिका साधक संसार उसे प्राप्त होता है, जो जन्म मरण आदि दुःखों से व्याप्त है। आत्मा वस्तुतः निर्विकार है। उससे शरीर का तादात्म्य बताना मिथ्या है। केवल आत्मा का परमात्मा से अविच्छिन्न तादात्म्य सम्बन्ध है, शरीर से नहीं। जीव अपने को देह समझते हुए स्वयं अपने को अनेक कर्मों का करने वाला मान बैठता है, जो सर्वथा भ्रम है। इस प्रकार वह विवश होकर उन कर्मों के फल से सम्बद्ध होता हुआ पाप पुण्य के वश में होकर कभी ऊँची योनि में और कभी नीची योनि में भ्रमण करता रहता है। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

प्रकृतेः क्रियमायानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥[1]

अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के माध्यम से प्रकृति द्वारा किये कर्मों का अहङ्कार विमूढात्मा अपने में आरोप करता है, अर्थात् आत्मा द्वारा किया गया मानता है। इस प्रकार अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ सोचता है कि मेरे द्वारा अधिक पुण्य, यज्ञ, दान आदि अनेक उत्तम कर्म किये गये हैं, अतः मैं स्वर्ग में जाकर सुख अवश्य भोगूँगा। इसी प्रकार के अभ्यास से वह वहाँ चिरकाल तक अत्यधिक सुख भोगकर पुण्य क्षीण होने पर इच्छा न रहते हुए भी कर्म प्रारब्ध की प्रेरणा से नीचे गिरता है। लिखा है—

'क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कर्मचोदितः।'[2]

ऐसा ही जगत्प्रसिद्ध वाक्य है —'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

जीव विज्ञान

पुण्य क्षीण होने पर नीचे गिरने की भी प्रक्रिया यहाँ वर्णित है। सबसे पहले जीव विज्ञान चन्द्रमण्डल पर आकर गिरता है और वहाँ से उनकी किरणों के सहारे नीहार अर्थात् कुहासे के साथ पृथ्वी पर गिरकर धान आदि अन्नों में बहुत दिनों तक रहता है तथा भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य इन चार रूपों में पुरुष द्वारा उपभोग किया जाता है। इस प्रकार अन्नादि के रूप में पुरुषों द्वारा खाया जाकर वीर्य के रूप में परिणत होता है। पश्चात् वीर्य रूप वह ऋतुकाल में स्त्री योनि में सिञ्चित किया जाता है। योनि में स्थित रज से

१. गीता अध्याय ३ श्लोक २७
१. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग ८ श्लोक १६

मिलकर वह एक दिन में ही जरायु वेष्टित हो कलल के रूप में परिणत हो कुछ कड़ा हो जाता है, फिर वह पाँच रातों में बुद्बुद के आकार का हो जाता है तथा सात रातों में मांस पेशी के समान अर्थात् अण्डाकार हो जाता है। एक पक्ष अर्थात् १५ दिनों में उस पेशी में रक्त भर जाता है तथा पच्चीस रातों में उसमें अङ्कुरों की उत्पत्ति होने लगती है। पश्चात् गर्दन, शिर, कन्धा, पीठ की रीढ़ की हड्डियाँ और उदर इन पाँचों की एक मास बीत जाने पर क्रमशः एक एक करके उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार दो मासों में हाथ, पाँव, बगल की पसलियाँ, कटि तथा घुटने तैयार होते हैं। इनके निर्माण का यही क्रम है, इनके क्रम में उलट फेर नहीं होता। तीन मासों में अङ्गों की सन्धियों तथा चार मासों में क्रमशः सभी अंगुलियों का निर्माण हो जाता है। पाँचवें मास में नाक, कान, आँख दन्तपंक्तियाँ नख तथा गुह्यस्थान बन जाते हैं। षष्ठ मास के अभ्यन्तर ही कानों के छिद्र स्पष्ट हो जाते हैं और गुदा उपस्थ या योनि तथा नाभि का निर्माण हो जाता है सप्तम मास में रोम, शिर तथा केश और आठवें मास में सभी अङ्ग विभक्त रूप में प्रकट हो जाते हैं। गर्भगत पिण्ड माता द्वारा भुक्त अन्न आदि के रस को नाभि में लगे हुए नाल के सूक्ष्म छेद से प्राप्त करता है और उसी रस से वृद्धि प्राप्त करता है तथा अपने पूर्व कर्मों के अनुसार मरता नहीं है। गर्भ में उसे अपने पूर्ण जन्मों तथा कर्मों की पूर्ण याद आती हैं तथा जठरानल से तप्त हो वह बिलखता हुआ कहता है, "पहले अनेक सहस्र योनियों में जन्म लेकर मैंने पुत्र, कलत्र आदि सम्बन्धों का अनुभव किया। कुटुम्ब के भरण-पोषण में आसक्त हो न्याय और अन्याय पूर्वक धन अर्जित किया किन्तु अभागे मैंने स्वप्न में भी भगवच्चिन्तन नहीं किया ; अब उसके फलस्वरूप गर्भगत महान् दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। अशाश्वत अथवा नश्वर शरीर को शाश्वत अर्थात् नित्य समझता हुआ तृष्णा में फंसा हुआ हूं। मैंने सर्वदा अकार्य ही अर्थात् नहीं करने वाला कार्य ही किया। अपनी भलाई का कार्य नहीं किया।"[1]

इस प्रकार जीव गर्भ में अपने कर्म के अनुसार दुःख का अनुभव करता हुआ सोचता है कि 'नरकतुल्य इस गर्भ से कब मेरा निस्तार होगा। इसके बाद मैं सर्वदा भगवान् विष्णु की पूजा ही करूँगा, ऐसा सोचता हुआ जीव योनि-यन्त्र से पीड़ित अत्यन्त दुःख से नया जन्म ग्रहण करता हुआ ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कोई पापी नरक से निकल रहा हो। पीबकी दुर्गन्ध से युक्त घाव में आवेष्टित कीट के समान दुर्गन्ध युक्त गर्भ से निकलता हुआ वह प्रतीत होता है। ततः पश्चात् बाल्यादि सभी दुःखों को भोगता है।

गरुड़पुराण के प्रेतकल्प में यह प्रसङ्ग अधोलिखित रूप में वर्णित है[1]

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये
स्त्रियां प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ।।५।।

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धुः पेश्यण्डं वा ततः परम् ।।६।।

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्गाद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ।।७।।

चतुर्भिर्धातवः सप्तपञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ।।८।।

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसंमते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ।।९।।

कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्च्छामाप्नोत्युपक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ।।१०।।

कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्वणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ।
उल्बेन संवृतस्तस्मिन् यन्त्रैश्च बहिरावृतः ।।११।।

आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भग्नपृष्ठशिरोधरः ।
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।।१२।।

तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ।।१३।।

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवन्ध्रः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ।।१४।।

आरभ्य सप्तमान्मासाँल्लब्धबोधोऽपि वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ।।१५।।

गरुड़पुराण में उल्लिखित उपर्युक्त श्लोकों में जो वर्णन किया गया है उसके सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि जीव अपने पूर्वजन्मों के कर्म के अनुसार पुनः देह की प्राप्ति के लिए पुरुष के वीर्य का आश्रय लेकर माता के गर्भ में प्रवेश करता है। एक रात उसका कलल रूप कहलाता है। पाँच रात तक वह बुद्बुद् के रूप में, दश रात तक बेर के आकार का तथा उसके बाद

---

१. गरुड़पुराण प्रेतकल्प, अध्याय ६ श्लोक ५ से २३

अण्डे के रूप में बदल जाता है। एक मास में शिर का निर्माण होता है। दो मासों में बाहु, बिखरे हुए अङ्ग, नख, रोम, अस्कि, चर्म सथा लिङ्गादि छिद्र उत्पन्न होते हैं। चार मासों में धातु तथा पाँच महीनों में क्षुधा-तृष्णा का उद्‌भव होता है। छः मासों में जरायु अर्थात् झारे से लिपटा हुआ वह माता की दाहिनी कुक्षि में घूमने लगता है। माता द्वारा खाये गये अन्न-पान आदि से वृद्धि को प्राप्त करता हुआ वह विष्ठा तथा मूत्र के गर्त में पड़ा रहता है। कीटों के काटसे से उसके सभी अङ्ग क्षत विक्षत होते रहते हैं। सुकुमारता तो अत्यधिक रहती है, अतः जब तब उसे मूर्च्छा आ जाया करती है। उस स्थिति में माता कड़वी, तीती, नमकीन, रूखी, या खट्टी वस्तुएँ खाती है तो गर्भगत बच्चे के सभी अङ्गों में पीड़ा होने लगती है। जरायु से सम्पूर्ण शरीर ढका रहता है, अतः शिर, पीठ, अधर आदि उसके सभी अङ्ग माता की कुक्षि में सिमटे हुए रहते हैं। जिस प्रकार पिंजरे का पक्षी अपने शरीर सञ्चालन में परतन्त्र रहता है उसी प्रकार वह भी शरीर-सञ्चालन में असमर्थ रहता है।

ऐसी अवस्था में जीव को पूर्वजन्मों का स्मरण होता है और दीर्घ सांस लेता हुआ वह हाथ जोड़कर उस परमात्मा से प्रार्थना करता है जिसने उसे गर्भ में स्थापित किया है। सातवें मास से ज्ञान होने पर भी वह काँपने लगता है तथा मल-मूत्र में रहने वाले अन्य कीड़ों के समान वह भी छटपट करता हुआ एक जगह नहीं रहता तथा अधोलिखित रूप में ईश्वर की प्रार्थना करने लगता है—

"श्रीपतिं जगदाधारमशुभक्षयकारकम्।
व्रजामि शरणं विष्णुं शरणागतवत्सलम् ॥१६॥
त्वन्मायामोहितो देहे तथा पुत्रकलत्रके।
अहंममाभिमानेन गतोऽहं नाथ संसृतिम् ॥१७॥
कृतं परिजनस्यार्थं मया कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दग्धोऽहं गतास्ते फलभोगिनः ॥१८॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्स्मरिष्ये पदं तव।
तमुपायं करिष्यामि येन मुक्तिं व्रजाम्यहम् ॥१९॥
विण्मूत्रकूपे पतितो दग्धोऽहं जठराग्निना।
इच्छन्नितो विवसितुं कदा निष्कास्यते बहिः ॥२०॥
येनेदृशं मे विज्ञानं दत्तं दीनदयालुना।
तमेव शरणं यामि पुनर्मे मास्तु संसृतिः ॥२१॥

न च निर्गन्तुमिच्छामि बहिर्गर्भात्कदाचन ।
यत्र यातस्य मे पापकर्मणा दुर्गतिर्भवेत् ।।२२।।

तस्मादत्र महद्दुःखे स्थितोऽपि विगतक्लमः ।
उद्धरिष्यामि संसारादात्मनं ते पदाश्रयः ।।२ ।।

सारांश यह है कि गर्भगत जीव ईश्वर से प्रार्थना करते हुए और उन्हें अनेक उपाधियों से विभूषित करते हुए अशुभ का नाश करने वाला तथा शरणागतवत्सल बतलाता है। पूर्वजन्म की अपनी भूलों को स्वीकार करते हुए कहता है कि मैं आपकी माया से मोहित होकर अपनी देह, पुत्र, कलत्रादि के प्रति ममता प्रदर्शित करता हुआ संसार यात्रा करता रहा। परिवार के लाभ के लिए मैं शुभ और अशुभ सब कर्म करता रहा। अब मैं अकेला होकर उन कर्मों के फलस्वरूप दग्ध हो रहा हूँ किन्तु मेरे कर्मफल का सांसारिक लाभ उठाने वाले सभी मुझ से पृथक् हो गये। अतः हे भगवान्, गर्भ से यदि बाहर निकला तो आपके चरणकमलों का सदा स्मरण करता रहूँगा और ऐसा उपाय करूँगा जिससे मेरा मोक्ष हो जाय अर्थात् संसार में आने से मुक्ति हो जाय। विष्ठा और मूत्र के कूप में पड़ा हुआ में जठराग्नि से जल रहा हूँ। मैं इससे शीघ्र निकलना चाहता हूँ। हे भगवान् ! मुझे कब बाहर करोगे। जिस दीन-दयालु प्रभु ने मुझे ऐसे विज्ञान का उपदेश दिया उन्हीं की शरण में जाना चाहता हूँ ताकि मुझे पुनः संसार की प्राप्ति नहीं हो। फिर कभी मैं गर्भ से बाहर जाना अर्थात् सांसारिक होना नहीं चाहता क्योंकि संसार में पाप कर्म करने से मेरी पुनः दुर्गति होगी। अतः, इस महत् दुःख में पड़ा हुआ भी श्रान्तिरहित हो आपके चरण युगल के आश्रय में रह कर संसार सागर से अपना उद्धार चाहता हूँ।

गरुड़पुराण में इसके आगे भगवान् की उक्ति है—

यदा गर्भाद्बहिर्याति कर्मभोगादनन्तरम् ।
तदैव वैष्णवी माया मोहयत्येव पूरुषम् ।।२८।।

अर्थात् कर्म भोग के अनन्तर गर्भ से बाहर निकलने के साथ ही उसे वैष्णवी माया पुनः मोहित कर लेती है ठीक ही कहा गया है कि गर्भावस्था और श्मशान घाट का ज्ञान यदि स्थायित्व को प्राप्त करे तो मनुष्य पाप कर ही नहीं सकता।

सम्पाति को आध्यत्मिक उपदेश देते हुए चन्द्रमा मुनि ने जीव विज्ञान पर भी प्रकाश डाला तथा कहा कि मैं यौवनादि के सुख दुःख की चर्चा नहीं

करना चाहता क्योंकि इसका अनुभव तो जीव को प्रत्यक्ष ही होता है। एवं प्रकारेण 'मैं देह हूँ' इस प्रकार के अभ्यास से अनुभूत देहाभिमान के कारण जीव को नरक और गर्भवास आदि अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः, आत्मा को प्रकृति से परे तथा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारों के शरीरों से पृथक् समझते हुए मनुष्य को देह आदि का ममत्व छोड़ कर आत्मज्ञानवान् होना चाहिये। आत्मा को जाग्रत आदि अवस्थाओं से विमुक्त, सत्य ज्ञानादि लक्षण सम्पन्न, शुद्ध, वुद्ध और शान्त स्वरूप समझना चाहिये। चैतन्यरूप आत्मा का परिज्ञान हो जाने पर अज्ञानजनित मोह नष्ट हो जाता है। तब इस प्रकार मुक्त योगी को कोई चिन्ता नहीं रहती कि यह शरीर प्रारब्ध कर्म के वेग से रहे अथवा जाय क्योंकि उसे अज्ञानजन्य सुख दुःख से कोई तात्पर्य नहीं। द्वन्द्व उसे विचलित नहीं कर सकते। इसलिए जब तक प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं हो जाता तब तक जीव शरीर में उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार सर्प केंचुल के साथ रहता है। केंचुल का त्याग करने पर जैसे सर्प को कुछ हर्ष-विषाद नहीं होता उसी प्रकार मुक्त आत्मा को भी शरीर त्याग करने पर कोई हर्ष या विषाद नहीं होता। गीता का वाक्य है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।४३।।

अर्थात् जिस प्रकार पुराने वस्त्र का त्याग कर मनुष्य नया वस्त्र पहनता है उसी प्रकार देही अर्थाथ् आत्मा पराने शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण करता है।

अन्त में सम्पाति ने वानरों को उपदेश दिया कि जिस राम के नाम का स्मरण करने मात्र से दुर्जन भी संसाररूपी महासमुद्र को पार कर जाता है और परम विष्णु पद को प्राप्त लेता है उसी भगवान् राम के भक्त आप लोग छोटे समुद्र को पार करने में क्यों नहीं समर्थ होंगे।

रावण द्वारा सीता को अध्यात्मोपदेश

हनुमान् जी जब अशोक वाटिका में पहुँचे तब रावण भी सीता से मिलने आया। हनुमान् जी ने अपना सूक्ष्म रूप बना कर पेड़ पर शरण ली। रावण ने सीता जी ने कहा कि मुझे देखकर तुम संकुचिल क्यों होती हो।

---

१. गीता अध्याय श्लोक २२

राम तो वनचरों के बीच लक्ष्मण के साथ रहते हैं।[1] कभी किसी के द्वारा देखे जाते हैं और कभी नहीं भी देखे जाते हैं। मैंने उन्हें देखने के लिए कई बार लोगों को भेजा किन्तु सब ओर ठीक से देखने पर भी उनके दर्शन नहीं हुए। राम तो तुम्हारे प्रति सर्वदा निःस्पृह हैं। तुम्हारे पास तुम्हारे द्वारा आलिङ्गित होते हुए भी तुम से सदा निःस्पृह हैं। तुम्हारे सभी गुणों का उपभोग करते हुए भी निर्गुण वे कभी तुम्हारी याद नहीं करते। रावण की इस उक्ति में गम्भीर दार्शनिक भाव छिपे हुए हैं। उसका कहना है कि भगवान् कभी किसी के द्वारा देखे जाते और कभी नहीं देखे जाते। रावण के आदमियों को उनके दर्शन नहीं हुए इसका तात्पर्य यह है कि ध्यानावस्थित लोग ही उन्हें देख सकते हैं। ध्यान टूटने पर उनके दर्शन नहीं हो सकते रावण के आदमी उन्हें नहीं देख सके क्योंकि उनमें भक्तिभाव का अभाव था। उसने सीता के साथ रहते हुए भी राम को उन से निःस्पृह बताया। इसका तात्पर्य यह है कि माया अर्थात् प्रकृतिरूपा सीता के साथ रहते हुए भी वे निःस्पृह थे। प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का उपभोग करते हुए भी वे निर्गुण थे अर्थात् त्रिगुणातीत थे। रावण ने उनके दर्शन कर स्वयं मुक्त होने की इच्छा भी यत्र तत्र व्यक्त की है।

हनुमान् द्वारा रावण को अध्यात्मोपदेश

जब हनुमान् जी ब्रह्मपाश में बंधे हुए रावण के पास आये तब उन्होंने सर्व प्रथम यही कहा[2] कि हे रावण! तुम विवेक पूर्वक लोक की गति को देखो। राक्षसी बुद्धि छोड़ो। भवबन्धन से छुटकारा दिलाने वाली प्राणिमात्र की अत्यन्त हितकारिणी दैवी गति का आश्रय लो। तुम तो न देहात्मबुद्धि से ही राक्षस हो न आत्मबुद्धि से ही। तुम सर्वथा निर्विकार हो। शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय दुःखादि न तुम्हारे हैं, न तुम स्वयं ही शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय दुःखादि हो। इन सभी शरीरादि का कारण अज्ञान है। स्वप्न में देखी गयी वस्तुओं के समान ये सभी असत् हैं। वस्तुतः इनका अस्तित्व नहीं है। यह सत्य है कि तुझ में अर्थात् तुम्हारे आत्मस्वरूप में कोई विकार नहीं है क्योंकि वह अद्वय है। जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापी होते हुए भी लिप्त नहीं होता उसी प्रकार देह में रह कर भी तुम्हारा आत्मा सूक्ष्म विभुरूप होने के कारण तद्गत सुख दुःखादि से लिप्त नहीं होता। आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि के संगत

---

१. सुन्दरकाण्ड सर्ग २ श्लोक २२ से २८

१. सुन्दरकाण्ड सर्ग ४ श्लोक १४ से २५

अर्थात् उनसे मिला हुआ समझने वाली बुद्धि ही बन्धनों का कारण है। मुक्ति का मार्ग है आत्मा को चिन्मात्र अर्थात् चैतन्यस्वरूप, अजन्मा, अक्षर अर्थात् विनाश रहित, आनन्दस्वरूप समझना और तदनुसार आचरण और उस स्थिति में पहुँचने का अभ्यास करना। शरीर पृथ्वी के विकार से उत्पन्न होने के कारण अनात्मा है। इसे आत्मा समझना भ्रम है। प्राण भी आत्मा नहीं है। वह तो वायुरूप है। मन अहङ्कार का विकार है, अतः, वह भी आत्मा नहीं है। बुद्धि भी आत्मा नहीं है क्योंकि वह प्रकृति के विकार से उत्पन्न हुई है। आत्मा सच्चिदानन्दमय, अविकारी, देहादि के संघात से रहित ईश्वर है। वह निरञ्जन है, सभी उपाधियों से मुक्त है। आत्मज्ञान हो जाने पर शरीरादि सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

उपर्युक्त दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करते हुए हनुमान् जी ने रावण को भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि अब मैं तुझे आत्यन्तिक मोक्ष-साधन का उपाय बता रहा हूँ। ध्यान पूर्वक सुनो। तुम स्वयं बुद्धिमान् हो भगवान् विष्णु की भक्ति बुद्धि को विशुद्ध करने वाली है। भक्ति द्वारा बुद्धि-शद्धि हो जाने पर अत्यन्त निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। अनन्तर विशुद्ध आत्म-तत्त्व का अनुभव होता है। सम्यक् ज्ञान के अनन्तर परमपद की प्राप्ति होती है। अतः हे रावण! आद्य हरि रमापति, प्रकृति से परे, विभुरूप, पुराण पुरुष राम को भजो मूर्खता तथा राम के प्रति शत्रु-भाव का परित्याग कर शरणागतप्रित भगवान् राम को भजो। सीता तथा अपने परिवार के लोगों के साथ उनकी शरण में जाओ। उन्हें नमस्कार करने से तुम्हारे सर्वविध भय मिट जायेगे। अपने हृदय में स्थित सुखरूप अद्वय परमात्मा का ध्यान नहीं करता हुआ मनुष्य किस प्रकार भवसागर से पार हो सकता है? यदि ऐसा नहीं करोगे तो अज्ञानमय अग्नि से जलते हुए अपने को अरक्षित शत्रु के समान नहीं देख सकोगे। अपने द्वारा किये गये पापों के कारण तुम नीचे ही गिरते जाओगे और तुम्हारे मोक्ष की कोई आशा नहीं रहेगी।

समुद्र तट पर राम द्वारा अध्यात्मचर्चा

राम यद्यपि एक अद्वितीय, चिन्मात्र, परमात्मा, सनातन थे तो भी समुद्र तट पर सीता जी के लिए विलाप करने लगे[1]। जो व्यक्ति राम के स्वरूप को तत्त्वतः जानता है उसे भी दुःख आदि स्पर्श नहीं कर सकते फिर स्वयं श्रीराम में, जो अव्यय और आनन्दघन हैं, दुःख, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग १ श्लोक ५० से ५४

आदि अज्ञानचिह्न कैसे हो सकते हैं। देह को ही देहाभिमान, दु:ख आदि हो सकते हैं; चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं। भगवान् राम तो स्वयं परमात्मा हैं। समाधि की अवस्था में द्वैतभाव समाप्त हो जाने पर सुख ही दीख पड़ता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि आदि का अभाव हो जाने पर शुद्ध आत्मा में दु:ख का लेशमात्र भी नही रहता। अत:, इसमें सन्देह नहीं कि सुख, दु:ख आदि बुद्धि के ही धर्म हैं, आत्मा के नहीं। राम स्वयं परमात्मा, पुराणपुरुष, नित्य, प्रकाशस्वरूप, नित्य सुखी तथा निरीह हैं। फिर भी मायागुणों के कारण अज्ञानी लोगों को वे सुखी और दु:खी जैसा प्रतीत होते हैं।

विभीषण द्वारा रावण को दार्शनिक उपदेश

विभीषण ने जब रावण को राम से वैर न करने का उपदेश दिया तव रावण क्रुद्ध हो गया तथा विभीषण चार मन्त्रियों सहित भगवान् राम के पास जाते समय उसे अध्यात्मोपदेश[1] करते हुए बोले कि श्रीराम सर्वदा साक्षात् प्रकृति से परे हैं। वे सभी जीवों के बाहर और भीतर सर्वत्र समान भाव से स्थित हैं। निर्मल होते हुए भी अनेक नाम, रूप आदि के भेद से भिन्न भिन्न जैसा भासते हैं। अज्ञान चक्षु अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य वाले सम्पूर्ण वन में व्याप्त एक ही अग्नि को विभिन्न वृक्षों में व्याप्त होने के कारण भिन्न भिन्न समझते हैं। ऐसा ही विचार सदानन्द ने वेदान्तसार में प्रकट किया है—

'यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेश:। ···एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्त्रित्वादिगुणकमप्यव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलज्ञानावभासकत्वात्।'[2]

जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिकमणि नील पीतादि रंगों वाली वस्तु के सम्पर्क से तत्तत् रंगों वाला प्रतीत होता है वैसे ही ज्ञानमयादि पञ्चकोशों के भेद से आत्मा तद्रूप जैसा भासता है। भगवान् नित्यमुक्त होते हुए भी अपनी माया के गुणों से प्रतिबिम्बित होकर काल, प्रधान, पुरुष और अव्यक्त नामों से जाने जाते हैं। वे अव्यय अर्थात् जन्मादि रहित होते हुए भी प्रधान-पुरुष के रूप में सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते हैं और अव्यय अर्थात् अविनाशी होकर भी कालरूप होकर सबका विनाश करते हैं। अपनी माया से कालरूप में प्रकट

१. युद्धकाण्ड सर्ग २ श्लोक ३६ से ४३
१. वेदान्तसार ७

हुए भगवान् राम ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थित होकर रावण का वध करने के लिए प्रकट हुए हैं। सत्य-संकल्प भगवान् अन्यथा नहीं होने देंगे।

विभीषण ने राम की स्तुति करते हुए उन्हें[1] भक्तवत्सल, अनन्त, शान्त, अमित तेजस्वी, जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा नाश का कारण, महात्मा, तीनों लोकों का गुरु, अनादि गृहस्थ, जगत् का आदि कारण, अपनी इच्छा के अनुसार विहार करने वाला, चराचर सभी जीवों के भीतर और बाहर रहने वाला तथा व्याप्य-व्यापक रूप में विश्वरूप भासित होने वाला बताया। विभीषण ने पुनः कहा कि भगवान् की माया के द्वारा लोगों का विवेक हर लिया जाता है। इस प्रकार लोग बुद्धि नष्ट होने पर पाप और पुण्य के वशीभूत हो बार बार संसार में आने जाने लगते हैं। जब तक जीव अनन्य भाव से भगवान् के ज्ञानस्वरूप को नहीं समझता तब तक उसे सीप में रजत भान के समान यह संसार सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर को विभु बताते हुए विभीषण ने कहा कि अज्ञानवश लोग सदा पुत्र, कलत्र, घर द्वार आदि विषयों में आसक्त रहते हैं जो सभी अन्त में दुःख देने वाले ही हैं।

विभीषण की दृष्टि में पुरुषोत्तम राम इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, अनिल, कुवेर, रुद्र आदि सब कुछ हैं। वे अणु से भी अणु और स्थूल से भी स्थूल हैं। वे सम्पूर्ण लोक के पिता, माता तथा धाता अर्थात् पालनकर्ता हैं। वे आदि, मध्य और अन्तरहित परिपूर्ण, अच्युत और अव्यय अर्थात् अविनाशी हैं। वे पाणि, पाद, चक्षु, श्रोत्रादिरहित होते हुए भी श्रोता, द्रष्टा, ग्रहीता तथा वेगवान् हैं। तुलसीदास जी की भी उक्ति 'पग बिनु चलै, सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।' यहाँ उद्धृत करने योग्य है। भगवान् अन्नमयादि कोशों से रहित[2] निर्गुण और निरुपाश्रय हैं। विभिन्न कोशों का साधारण परिचय देते हुए वेदान्त दर्शन के सहारे यहाँ सूक्ष्म शरीर का निरूपण किया गया है।

सूक्ष्म शरीर १७ अवयवों वाला लिङ्गशरीर है। ये अवयव हैं ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु जिह्वा और नासिका), बुद्धि, मन, कर्मेन्द्रिय पञ्चक (मुख, हाथ, पाँव, गुह्येन्द्रिय और मूत्रेन्द्रिय) तथा वायुपञ्चक (प्राण, अपान, उदान व्यान और समान)। ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि विज्ञानमयकोश कहलाती है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमयकोश कहलाता है। उपर्युक्त प्राणादि

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग ३ श्लोक १८ से ३२ तथा ३४. ३६

१. वेदान्तसार १३

पाँच कर्मेन्द्रियों सहित प्राणमयकोश का रूप है। इन कोशों में विज्ञानमयकोश ज्ञान शक्ति मान कर्त्तृरूप है, मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूप है तथा प्राणमय क्रियाशक्तिमान कार्यरूप है। उपर्युक्त तीनों कोशों का सम्मिलित रूप सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

अन्नमय कोश को समझने के लिए स्थूल भूत पञ्चीकरण प्रक्रिया को समझना आवश्यक है।[1] यह सर्वथा वैज्ञानिकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को अंग्रेजी में क्विंटुप्लिकेशन (Quintuplication)कहते हैं। आकाशादि पञ्चमहाभूतों को पहले दो दो भागों में विभक्त किया जाता है। अब इन पाँचों के दश भाग हो गये। इनमें प्रत्येक के आधे भाग अर्थात् उपर्युक्त पाँच भागों को अलग कर देते हैं। शेष पाँच भागों को पुनः चार चार भागों में बाँटते हैं। इस प्रकार ये बचे हुए आधे आधे भाग २० भागों में बंट गये। एक एक तत्त्व के आधे वह भाग में शेष चारों का एक एक भाग जोड़ देंगे। इस विधि से जो रूपान्तर होगा यों है—(१) आकाश का आधा भाग तथा इसके चतुर्थांश। (२) पृथ्वी का आधा भाग तभा इसके अतिरिक्त चारों तत्त्वों का एक एक भाग। (३) जल का आधा भाग तथा इसके अतिरिक्त शेष चारों तत्वों का एक एक भाग (४) पावक अर्थात् अग्नि का आधा भाग तथा इसके अतिरिक्त शेष चारों तत्त्वों का एक एक भाग (५) समीर अर्थात् वायु का आधा भाग तथा शेष चारों तत्त्वों का एक एक भाग। इस प्रकार पृथक् पृथक् पाँचों के आधे भाग में शेष चारों का एक एक भाग सम्मिलित हो गया अर्थात् पाँचों में पाँचों तत्त्व में सम्मिलित हो गये किन्तु प्रत्येक में अपनी अपनी विशेषता रही। इसकी प्रष्टि यह उक्ति प्रसिद्ध है—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्चते ॥[2]

इस विधि से आकाश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है। वायु में शब्द और स्पर्श की, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप की, जल में शब्द, स्पर्श रूप और रस की तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों की अभिव्यक्ति होती है। इन्हीं पञ्चीकृत महाभूतों से १४ लोक तथा ब्रह्माण्ड और तदन्तर्वर्त्ति जरायुज, अण्डज, उद्भिद् तथा स्वेदज जीवों की उत्पत्ति होती है।[3] इन की

---

१. वेदान्तसार १५
२. पञ्चदशी १—२७
१. वेदान्तसार १६, १७

समष्टि स्थूल शरीर अन्न के विकार जन्य होने से अन्नमय कोश स्थूल भोगायतन होने से स्थूल शरीर, जाग्रत आदि कहलाती है ।

भगवान् इन कोशों से रहित हैं । वे निर्विकल्प, निर्विकार, निराकार और निरीश्वर हैं अर्थात् वे स्वयं ईश्वर हैं उनका कोई अलग ईश्वर नहीं है । वे उत्पत्ति, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता और नाश-इन षड्भावों से रहित, प्रकृति से परे अनादि पुरुष हैं । माया के वशीभूत होने पर वे मनुष्य जैसे प्रतीत होते हैं । उन्हें निर्गुण और अजन्मा समझ कर वैष्णव मोक्ष गामी होते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में पहुँचना ही मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन है । अन्त में विभीषण ने भगवान् से प्रार्थना की कि मैं उनके चरणकमल के निःश्रेयस भक्ति रूप सोपान को पाकर ज्ञान योगाख्यभवन के शिखर पर चढ़ना चाहता हूँ । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानयोग का भी भक्ति ही मार्ग है । भगवान् भवसागर से पार कराने वाले हैं । भगवच्चरणारविन्द के दर्शनों से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है । कर्मबन्धन के विनाश के लिए भक्तिलक्षण परमात्मज्ञान तथा ध्यान करने से परमार्थ स्वरूप का साक्षात्कार होता है ।

समुद्र के माध्यम से अध्यात्मोपदेश

क्रुद्ध राम से क्षमा याचना करते हुए समुद्र ने कहा[1]—स्थूल पञ्चमहाभूत स्वभावतः जड़ होते हैं । ये पञ्चमहाभूत भगवदाज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते अर्थात् नियमानुसार ही कार्य करते हैं । ये पञ्चमहाभूत तामस अहंकार से उत्पन्न होते हैं, अतः कारण का अनुगमन करने से उनमें तामस जडत्व स्वतः विद्यमान रहता है । निर्गुण और निराकार ब्रह्म लीला के रूप में मायिक गुणों को अङ्गीकार करते हैं तब उनका नाम 'वैराज' हो जाता है । त्रिगुणात्मक विराट् के सात्त्विक अंश से देवगण, राजस अंश से प्रजापतिगण तथा तामस अंश से रुद्रगण उत्पन्न होते हैं । लीला के रूप में माया से आच्छन्न मानव रूप भगवान् राम को जड़ समुद्र पहले नहीं समझ सका क्योंकि भगवान् तो वस्तुतः निर्गुण हैं ।

शुक द्वारा अध्यात्मोपदेश

रावण के दूत के रूप में श्रीराम के शिविर से लौटे हुए शुक राक्षस ने रावण को उपदेश देते हुए कहा कि[2] रामचन्द्रजी मनुष्य नहीं, अपि तु साक्षात् आदिनारायण परमात्मा हैं और सीता जगत् का कारण साक्षात् चित शक्ति

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग ३ श्लोक ७२ से ७७

१. युद्धकाण्ड सर्ग ४ श्लोक ४० से ५६

जगद्रूपिणी हैं। उन्हीं परमात्मा राम और जगज्जननी जानकी के संयोग से स्थावर-जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ है, अतः, वे दोनों संसार के माता पिता हैं। उनका वैरी कोई कैसे हो सकता हैं। संसार क्षणभर में नष्ट होने वाला है तथा उसमें स्थित शरीर भी क्षण भंगुर है। चौबीस तत्त्वों वाला क्षणभंगुर पञ्चभौतिक शरीर मल, मांस, हड्डी आदि दुर्गन्ध युक्त पदार्थों से निर्मित है। है। अतः, इसके प्रति आस्था उचित नहीं क्योंकि यह जड़ है। आत्मा तो इससे सर्वथा भिन्न है। इस शरीर का तो नाश हो जाता है किन्तु इसके द्वारा किये गये पुण्य, पाप आदि जीव के साथ रहते हैं जिनके कारण जन्मान्तर में भी सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। जैन तीर्थङ्करों की यह मान्यता है कि मनुष्य अच्छा या बुरा जो कर्म करता है वे कर्म पुद्गल के रूप में उसके जीव में सटते जाते हैं, अतः सूक्ष्म रूप में भी भारी होता जाता है। जिस प्रकार किसी हल्की वस्तु में भी मिट्टी आदि सट जाने पर वह भारी हो जाती है और आकाश में फेंकने पर नीचे गिर जाती है उसी प्रकार कर्म पुद्गल से युक्त जीव भी भारी हो जाने के कारण ऊपर उठने की चेष्टा करने पर भी नीचे गिर जाता है अर्थात् जन्म-मरण के फेर में पड़ा रहता है। जब योगादि के द्वारा उसके कर्मपुद्गल नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा हल्का हो जाता है और लोकाकाश से ऊपर उठ कर अलोकाकाश में चला जाता है जहाँ सभी मुक्त आत्मा विद्यमान हैं। भेद इतना ही है कि सनातन सिद्धान्त के अनुसार आत्मा रूपी छोटा प्रकाश परमात्मा रूपी अन्नत प्रकाश में विलीन हो जाता है। जैन तीर्थङ्करों के अनुसार सभी मुक्त आत्मा अलोकाकाश में उसी प्रकार अलग अलग प्रकाशमान रहते हैं। जिस प्रकार दीपावली के दिन पृथक् रखी गयी दीपमालिका। उनकी यह मान्यता इसलिए है कि वे एक ईश्वर को न मान कर आत्मबहुत्व थर्थात् सांख्यदर्शन के अनुसार[1] पुरुषबहुत्व स्वीकार करते हैं। वेदान्तादि दर्शनों के अनुसार घटाकाश और मठाकाश जिस प्रकार एक ही है उसी प्रकार विभुरूप आत्मा ही परमात्मा है। अज्ञान वश लोग पृथक् उसे समझते हैं।

शुक ने रावण को समझाते हुए यह भी कहा कि जिस शरीर के लिए ब्रह्म हत्या आदि अनेक पाप किये जाते हैं वह शरीर तो यहीं छूट जाता है और शरीर द्वारा किये गये पाप-पुण्य जीव के साथ हो जाते हैं तथा पूर्वजन्मकृत ये पाप-पुण्य शरीर सम्बन्ध से जीव को दूसरे जन्म में सुख दुःख प्राप्त कराते हैं। जब तक जीव देहाभिमानी होकर, यह सोचता है कि 'मैं ही शरीर हूँ और

---

१. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ सांख्यकारिका १८

मैं कर्त्ता हूँ अर्थात् आत्मा में उनका अध्यास अर्थात् अध्यारोप करता है तब तक विवश होकर उसे जन्म, मृत्यु आदि सुख-दु:ख भोगने पड़ते हैं। अध्यास या अध्यारोप की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि अन्धकार में भ्रमवश मनुष्य जिस प्रकार रस्सी को सर्प समझ लेता है उसी प्रकार वस्तुरूप सच्चिदानन्दाद्वय ब्रह्म को अवस्तु रूप अज्ञानादि सकल जड़ समूह में आत्मा का आरोप करना अध्यास कहलाता है।

आत्मा अत्यन्त निर्मल, शुद्ध, विज्ञानमय अविचल, अव्यय अर्थात् अविकारी हैं। अज्ञानवश वह अपने को बन्धन में बड़ा हुआ जैसा अनुभव कर मोह को प्राप्त होता है। अत: मुमुक्षु को चाहिये कि वह शुद्ध भाव से आत्मज्ञान प्राप्त कर सदा उसी का स्मरण करे। आत्मा के सम्बन्ध में विद्वज्जनों का कहना है—

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ: ।
तथा बद्धवद् भाति यो मूढदृष्टे:
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥[१]

अर्थात् घने बादल में छिते हुए सूर्य को जिस प्रकार विकृत दृष्टि वाले मूर्ख लोग निष्प्रभ मानते हैं उसी प्रकार जो आत्मा मूर्खों की दृष्टि में बद्धवत् मालूम पड़ता है वह आत्मा नित्योपलब्धि स्वरूप है।

शुक ने पुन: उपदेश देते हुए कहा कि भोग तो शूकर आदि योनियों में तथा नरक में भी मिल सकते हैं, अत: मनुष्य को पुत्र, स्त्री, घर-बार आदि से विरक्त हो जाना चाहिये। मनुष्य शरीर विवेक युक्त होता है, उसमें भी ब्राह्मण शरीर विशेष विवेकशील होना चाहिये। कर्म भूमि भारतवर्ष में विवेकी ब्रह्मण कुल में जन्म लेना और भी अधिक दुर्लभ है। इतना होने पर विद्वत्ता प्राप्त करना और अधिक कठिन है। अत: पुलस्त्य के उत्तम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न रावण को शरीर को ही आत्मा समझ कर भोगानुरक्त नहीं रहना चाहिये। रावण अज्ञानी के समान भोगों की लिप्सा में ही रहता था, अत: उसे उपदेश देते हुए शुकने कहा कि सभी सङ्गों का परित्याग कर भक्तिभाव से परमात्मा राम का ही आश्रय लेना चाहिये। उसे उन्हें सीता को समर्पित कर भक्तिभाव से उनके चरण कमलों का अनुयायी होना चाहिये। ऐसा करने से

---

१. हस्तामलक १०

उसके सभी पाप दूर हो जायेंगे और उसे विष्णु पद की प्राप्ति होगी, नहीं तो उत्तरोत्तर निम्न लोकों में ही अधोगति होगी। अतः भगवान् की शरण में जाकर भजन करना ही शुकने रावण को मोक्ष का उचित मार्ग बताया।

कालनेमिकी अध्यात्मोक्ति

युद्धकाण्ड के पञ्चम सर्ग का अन्तिम श्लोक बतलाता है कि भगवान् राम सर्पेश्वर, सर्वमय, विधाता, सदा सच्चिदानन्दमय होते हुए भी मायामनुष्यत्व की विडम्बना करते हुए माया वश हो युद्धादि लीला करते हैं।[५७] षष्ठ सर्ग में बताया गया है कि रावण जब कालनेमि के पास गया तब उसने राक्षसेन्द्र को समझाते हुए कहा कि[५८] तुम्हारा शरीर जड़ है, अतः इस शरीर अथवा राज्य अथवा जानकी से तुझे क्या प्रयोजन? तुम्हें उचित है कि तुम सीता को श्री राम जी को और राज्य विभीषण को समर्पित कर स्वयं तपस्या के लिए वन चले जाओ। सङ्ग और विषयों का त्याग कर अपनी बाह्य प्रवृत्ति वाली इन्द्रियों को प्रकृति से भिन्न समझो। देह, बुद्धि, इन्द्रिय, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त अर्थात् ब्रह्मा से कीट तक जो कुछ भी दिखाई देता है या सुना जाता है वह सब प्रकृति है, माया है, अनित्य है। सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों वाली प्रकृति ही अपने गुणों के अनुसार प्रजा को उत्पन्न करती रहती है। वही संसार की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण है तथा वही लोहित, श्वेत और कृष्ण वर्ण की प्रजा अर्थात् सन्तति उत्पन्न करती है। प्रकृति कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व गुणों को आत्मा में आरोपित कर उसे अपने वश में करके सदा खेलती रहती है। उसका साथ होने से शुद्ध होते हुए भी आत्मा उसके गुणों से प्रभावित हो अपने स्वरूप को भूल जाता है और बाह्य विषयों को देखने लगता है। जब सद्गुरु के उपदेश से उसे आत्मज्ञान हो जाता है तब वह बाहर से अपनी दृष्टि को फेरकर अपने आप को स्पष्ट देखने लगता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त देही प्रकृति के उपर्युक्त गुणों से मुक्त हो जाता है। अन्त में कालनेमिने रावण को उपदेश दिया कि तुम भी संयतेन्द्रिय हो अपने को प्रकृति से भिन्न समझ कर मुक्त हो जाओगे। यदि तुम निर्गुण भगवान् का ध्यान न कर सको तो श्री सीताराम रूप सगुण ब्रह्म की उपासना करो। ऐसा करने से तुझे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। भगवान् राम सर्वतोभावेन परिपूर्ण अद्वितीय हैं।

---

१. युद्धकाण्ड-सर्ग ५ श्लोक ८६

१. युद्धकाण्ड सर्ग ६ श्लोक ४५ से ६३

१. युद्धकाण्ड सर्ग ७२ श्लोक ६५ से ७०

कुम्भकर्ण द्वारा रावण को उपदेश

कुम्भकर्ण ने रावण को समझाते हुए[1] कहा कि राम को परब्रह्म सनातन परमात्मा समझो। वे मायामानुष्य वेश धारण किये हुए हैं। भक्ति भाव से भजन करने वालों पर वे प्रसन्न होते हैं। भक्ति ज्ञान की जननी और मोक्ष देने वाली है। भक्तिहीन व्यक्ति के द्वारा किया गया सब कुछ असत् है अर्थात् निष्फल है। शिव स्वरूप रामावतार हजारों अवतारों के तुल्य है। जो मनसा, वाचा राम को सर्वदा भजता है वह संसार समुद्र को अनायास पार कर मुक्त हो श्री हरि के परम पद को प्राप्त करता हैं।

रूप का ध्यान

कुम्भकर्ण वध के बाद नारद जी भगवान् राम की स्तुति करने लगे जिसके क्रम में उन्होंने आध्यात्मिक चिन्तन सम्बन्धी बातें बतायीं। उनकी उक्ति के अनुसार भगवान् राम देवाधिदेव, जगन्नाथ, परमात्मा, नारायण, अखिलाधार विश्वसाक्षी, विशुद्धज्ञान रूप हैं। इतना होते हुए भी लोकों का वञ्चन करते हुए वे अपनी माया से मनुष्य शरीर धारण कर अपने को सुखी-दुखी के रूप में प्रकट करते हैं। अपनी माया से आच्छादित होकर वे अन्तर्यामी हो सब के हृदयों में स्थित रहते हैं। वे स्वभावतः स्वयं ज्योतिस्वरूप हैं। निर्मल आत्मा वाले ही उनका साक्षात् कर सकते हैं। वे आँखें खोलकर सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते हैं तथा उनके आँख बन्द करते ही सम्पूर्ण सृष्टि का उपसहार हो जाता है। उन्हीं में सम्पूर्ण जगत् भासता है। वे ब्रह्मस्वरूप है और उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। 'ब्रह्म नित्यं जगन्मिथ्या' का अद्वैत सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में सर्वविदित ही है। मुनि लोग उन्हें प्रकृति, पुरुष, काल तथा व्यक्त और अव्यक्त समझते हैं। जिन श्रुतियों ने उन्हें विकार रहित, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप बताया उन्हीं श्रुतियों ने उन्हें सम्पूर्ण जगदाकारमूर्ति भी बताया। वेद-वादियों को इसमें वैदिक विरोध सा मालूम पड़ता है किन्तु भगवत्कृपा के बिना विद्वान् लोग भी किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाते। भगवान् माया से ही क्रीडा करते हैं। अतः इन वेदवाक्यों में तनिक भी विरोध नही है। जिस प्रकार सूर्य का रश्मिजाल भ्रमवश जल जैसा मालूम पड़ता है उसी प्रकार भ्रमवश ही सम्पूर्ण संसार भगवान् में ही कल्पित होता है किन्तु उनका वास्तविक निर्गुण रूप मन का अविषय है अर्थात् मन से उस रूप का अनुमान नहीं किया जा सकता। वह रूप कैसे दृश्य हो सकता है अर्थात् देखा जा सकता है और दृश्य के बिना कोई भजन कैसे कर सकता है अर्थात् बिना रूप के

१. युद्धकाण्ड सर्ग ७ श्लोक ६५ से ७०

ध्यान कैसे किया जा सकता है ? इसीलिए बुद्धिसम्पन्न लोग भगवान् के अवतारों के स्वरूपों का ही ध्यान कर संसार सागर से पार हो जाते हैं। काम, क्रोध आदि षड् रिपु इस मार्ग के अवरोधक हैं। जिस प्रकार बिल्ली चूहे को डराती है उसी प्रकार ये काम, क्रोधादि विरोधी तत्त्व चित्त को सर्वदा डराते रहते हैं। मन में सदा भगवद्रूप का ध्यान करने वालों, सदा उनका नाम स्मरण करने वालों, उनकी पूजा में लीन रहने वालों, उनकी कथारूपी अमृत का पान करने वालों तथा भगवद्भक्तों का सत्सङ्ग करने वालों के लिए यह संसार रूप अथाह समुद्र गाय के खुर जैसा तुच्छ अर्थात् सरल हो जाता है। इस प्रकार नारद जी ने भगवान् राम से कहा कि मैं अपने हृदय में सर्वदा आपके सगुण रूप का ध्यान करता रहता हूँ और जीवन्मुक्त होकर तीनों लोकों में विचरण करता रहता हूँ। इस प्रकार मैं सभी देवताओं द्वारा भी पूजित होता हूँ। आपने आज कुम्भकर्ण का वध कर पृथ्वी का भार बहुत कुछ हलका कर दिया। ऐसा कहकर नारद जी ब्रह्मलोक को चले गये।

मन्दोदरी को रावण द्वारा अध्यात्मोपदेश

रावण युद्ध विजय की अभिलाषा से हवन कर रहा था किन्तु राम की वानरी सेना ने विघ्न उपस्थित किया। यहाँ तक कि मन्दोदरी को भी अपमानित किया। रावण का ध्यान टूटा और उसे सान्त्वना देते हुए अध्यात्मोपदेश[1] करने लगा। उसने बताया कि सुख दुःख आदि दैवाधीन हैं। शोक अज्ञान से उत्पन्न होता है और वह ज्ञान का विनाश करने वाला है। अनात्मा शरीर आदि में अहंभाव अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। पुत्र, दारादि सम्बन्ध तथा उनमें आस्था मिथ्या अहंकारजनित ही हैं। इनमें आस्था होने पर ही हर्ष, शोक भय, लोभ, मोह, स्पृहा आदि होते हैं। जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा आदि भी अज्ञानजन्य ही हैं। आत्मा तो एक मात्र अकेला, शुद्ध, सबसे पृथक् और निर्लेप है। यह आनन्दस्वरूप ज्ञानमय और सभी भावों से रहित है। उस सत्स्वरूप का कभी किसी से न संयोग होता है न वियोग। अन्त में रावण ने मन्दोदरी से कहा कि तुम भी आत्मा को ऐसा ही समझकर शोक छोड़ो। राम मुझे मार देगें तो मैं विष्णुपद को प्राप्त करूँगा।

रावण की बातें सुनकर मन्दोदरी ने भी उसे समझाते हुए कहा कि[2] राम साक्षात् ईश्वर प्रकृति और पुरुष के नियामक हैं। उसके बाद मन्दोदरी ने विष्णु के विभिन्न अवतारों की चर्चा की। अन्त में रावण ने मन्दोदरी से

१. युद्धकाण्ड सर्ग १० श्लोक ३६ से ४१।
२. युद्धकाण्ड सर्ग १० श्लोक ४५ से ४६

फिर कहा कि राम के बाणों से हत होकर मैं परम विष्णुपद को प्राप्त करूँगा। मैं यह जानता हूँ कि राम स्वयं विष्णु हैं और सीता लक्ष्मी हैं। यह जानते हुए भी मैं वन से सीता को हर लाया ताकि मैं राम के हाथों से निधन प्राप्त कर परमपद को प्राप्त करूँ। जिस परम आनन्दमयी शुद्ध गति की मुमुक्षु सेवा करते हैं उस गति को मैं युद्ध में राम द्वारा हत होकर प्राप्त करूँगा। अपने पापों को यहीं प्रक्षालित कर दुर्लभ मोक्ष को प्राप्त करूँगा। अब मैं इस संसारसागर को, जिसमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच प्रकार की तरङ्गे हैं, भ्रम भंवर हैं, स्त्री, पुत्र, धन, बन्धु आदि मत्स्य हैं, क्रोध वड़वानल है तथा जिसमें कामरूपी जाल फैला हुआ है, पार कर श्री हरि के पास प्रयाण करूँगा।

रावणमोक्षोपरान्त नारदोक्ति

भगवान् राम ने जब रावण का वध किया तब उसके शरीर से निकला हुआ तेज उन्हीं के हृदय में प्रवेश कर गया जिसे देखकर देवता भी आश्चर्य-चकित हो गये। नारद जी ने उन लोगों को कहा कि इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। रावण को पहले से ज्ञात था कि वह राम के द्वारा हत होगा। यह ज्ञान मिलते ही वह राम का चिन्तन करता हुआ उस काल की प्रतीक्षा करने लगा था। शत्रु भाव से ही सही, वह राम का ध्यान किया करता था। स्वप्न में भी वह राम को ही देखता था। क्रोध भी रावण के लिए गुरु के उपदेश से भी अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। राम के द्वारा हत होने से उसके सभी पाप धुल गये और मुक्तबन्धन हो उसने राम का सायुज्य प्राप्त किया। अन्त में नारद जी ने कहा कि कोई पापी हो, दुराचारी हो या जैसा भी व्यक्ति हो यदि वह स्नेहवश या भयवश भगवान् का ध्यान करता है तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। उसके सभी भय, दोष आदि दूर हो जाते .. तथा विमुक्त हो वह वैकुण्ठ को जाता है।

विभीषण को लक्ष्मण द्वारा अध्यात्मोपदेश

रावण की मुक्ति के बाद विभीषण रावण की पत्नी आदि के साथ ही बहुत दुःखी हुआ तब[1] भगवान् राम ने उसे समझाने बुझाने के लिए लक्ष्मण को भेजा। लक्ष्मण जी ने कहा कि जिस प्रकार जल का बालू से संयोग और वियोग होता रहता है उसी प्रकार देहधारी काल के वश में होकर संयोग और वियोग को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार एक बीज से दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं

१. युद्धकाण्ड सर्ग १२ श्लोक ८ से २८।

और नष्ट भी हो जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर की माया से प्रेरित हो प्राणी अन्य प्राणी से उत्पन्न होते हैं और मरते रहते हैं। सभी एक समान ही काल के वशीभूत होकर उत्पन्न हुए हैं। जिसकी मृत्यु जब जिस रूप में जिससे होने वाली होती है उसी रूप में उसी समय उसी व्यक्ति के हाथों होती है। अजन्मा केवल ईश्वर ही है। बालक जिस प्रकार अनेकविध खेल खेलता रहता है उसी प्रकार भगवान् सृष्टि करते हैं और नष्ट भी कर देते हैं। जीव देह संयोग के कारणही देही कहलाता है। जिस प्रकार एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता है उसी प्रकार जीव माता-पिता की देह से उत्पन्न होता है। वस्तुत: देह और देही का विभाग भी पहले के अविवेक के कारण ही होता है। जिस प्रकार अग्नि में लकड़ी का विकार दीख पड़ता है उसी प्रकार द्रष्टा आत्मा में अनेकता, जन्म, मरण क्षय, वृद्धि, कर्म और क्रियाफल प्रतीत होते हैं। जो वस्तुत: उसके धर्म नहीं हैं। भ्रमवश सत् आत्मा के साथ असत् देह का संयोग मानने से सभी असत् पदार्थ सत् जैसे प्रतीत होते हैं। सत्य अर्थात् नित्य आत्मा का ध्यान करते रहने से उसी की अनुभूति होती है तथा आत्मातिरिक्त सभी पदार्थ असत् प्रतीत होने लगते हैं। प्रसुप्त अवस्था में जिस प्रकार अहंभाव नहीं होने पर प्रपञ्चरूप संसार की प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार अहंकार का अभाव हो जाने के कारण मुक्त पुरुष को जीवित अवस्था में भी प्रपञ्च का भान नहीं होता। जीवन्मुक्त तो सर्वदा आत्मचिन्तन में ही रहता है। उसे प्रपञ्च से कोई मतलब ही नहीं रहता।

इस प्रकार उपदेश देते हुए लक्ष्मण जी ने विभीषण से कहा कि तुम अहंता और ममता अर्थात् 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसी भावना का, जो मन का धर्म है, त्याग करो और बाह्य विषयों से मन को हटाकर ईश्वर में लगा दो। वे सर्वभूतान्तर्यामी परमेश्वर मायारूप में यहाँ विद्यमान हैं बाह्य विषयों में दोष दिखाकर उनका रामानन्द में नियोजन कर दो। माता, पिता, भाई, बन्धु मित्र, कलत्रादि स्नेहभाजन लोग देह बुद्धि से ही हैं। जब मनुष्य अपने विशुद्ध अन्त:करण द्वारा आत्मा को शरीर से भिन्न समझ लेता है तब उसके लिए माता, पिता, भाई बन्धु अनात्मा प्रतीत होने लगते हैं। ये सब, सम्बन्ध मिथ्या ही हैं। पुत्र, कलत्र, घर, द्वार, धन सम्पत्ति आदि, शब्दादि सभी विषय मिथ्या ज्ञान अर्थात् अज्ञान-वश ही उत्पन्न हैं तथा अज्ञानजन्य होने के कारण क्षणिक हैं।

अन्त में उन्होंने विभीषण से कहा कि भक्तिभाव से हृदय में भगवान् राम का स्मरण करते हुए प्रारब्धवश प्राप्त राज्यादि का उपभोग करो तथा प्रजा का

पालन करो। भूत और भविष्यत् की चिन्ता न कर न्यायपूर्वक वर्तमान को संभालो। ऐसा करने से सांसारिक कर्मदोषों से तुम लिप्त नहीं होगे। भगवान् का आदेश है कि अब तुम सभी संस्कार श्रद्धापूर्वक शास्त्रानुकूल करो।

सीता का अग्नि प्रवेश और अध्यात्मचर्चा

लङ्का-विजय के बाद सीता की अग्नि-परीक्षा हो जाने पर देवता, ऋषि-मुनि सभी वहाँ उपस्थित हो परमात्मा राम की स्तुति करने लगे।[1] उन लोगों ने भी उन्हें सभी लोकों का कर्त्ता, साक्षी तथा विज्ञान विग्रह और विज्ञानरूप बतलाया। उन्होंने उन्हें वसुओं में अष्टम वसु, रुद्रों में शङ्कर तथा सभी लोकों का आदि कर्त्ता बताया। उन्होंने यह भी कहा कि दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिका तथा सूर्य और चन्द्रमा उनकी दोनों आँखें हैं। इसी प्रकार उन्हें सम्पूर्ण लोकों का उद्गम तथा लय स्थान, नित्य, अद्वितीय, सदा उदित अर्थात् जन्ममरण रहित, सदा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, त्रिगुणातीत और अद्वय बताया। जो लोग उनकी माया से संवृत अर्थात् आच्छादित हैं उनके लिए वे मनुष्य रूप में प्रतीत होते हैं। जो भगवन्नाम का सदा स्मरण करते रहते हैं उनके लिए वे सर्वदा चैतन्यस्वरूप ही प्रतीत होते हैं।

ब्रह्मा द्वारा अध्यात्मोक्ति

इस अवसर पर विशेष रूप से प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा जी ने भगवान् राम को[2] निःशेष प्राणियों की स्थिति का कारण, अध्यात्मज्ञानियों द्वारा हृदयकमल के मध्य में ध्यान किया जाने वाला, हेय और उपादेय रूप द्वन्द्व से रहित, सब से परे, एकमेवाद्वितीय, सत्ता मात्र, सबके हृदय में निवास करने वाला और साक्षीरूप बताया। मोहातीत संन्यासी प्राण और अपान वायु को हृदय में अवरुद्ध कर सम्पूर्ण संशय, बन्धन तथा विषय-वासनाओं के छेदन कर अर्थात् उनसे मुक्त हो सूर्य के समान तेजस्वी राम का दर्शन करते हैं। वे मायातीत अर्थात् माया से रहित, लक्ष्मीपति, सम्पूर्ण जगत् के आदि कारणरूप, प्रत्यक्षानुमानोपमानादि प्रमाणों से परे, मोह का नाश करने वाले, मुनिजनों के वन्दनीय, योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य, योग का विधान करने वाले अर्थात् योगमार्ग प्रवर्त्तक, सर्वतः परिपूर्ण तथा सम्पूर्ण लोकों को आनन्दित करने वाले सर्वतोभावेन रमणीय हैं। भगवान् भावाभावप्रत्यक्षहीन अर्थात्

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग १३ श्लोक ४ से ७।

२. युद्धकाण्ड सर्ग १३ श्लोक १० से २३।

भाव और अभावरूप प्रतीति रहित हैं। श्री शङ्कर प्रभृति योगियों के द्वारा भी वे पूजित हैं, नित्य शुद्ध, बुद्ध और अनन्त हैं। निःशेष दानवों के विनाश के लिए दावानल सदृश प्रणवरूप अर्थात् ॐकार रूप हैं। भगवान् राम सर्वेश्वर मानातीत अर्थात् देश, कालादि परिणामरहित, निखिल ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले नारायण, भक्ति के माध्यम से प्राप्त होने योग्य, ध्यान किये जाने पर संसार के भय से छुटकारा दिलाने वाले तथा योगाभ्यास से पवित्र हुए चित्त में विहरण करने वाले हैं। भगवान् सम्पूर्ण लोक की परम्परा के आदि और अन्त हैं तथा परमेश्वर हैं। इस उक्ति से भगवान् का सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारणत्व स्पष्ट होता है। बाणभट्टने कादम्बरी के मङ्गलाचरण के क्रम में लिखा है—

> रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये,
> स्थितौ प्रजानां प्रलये तमः स्पृशे।
> अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे
> त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥

अर्थात् लोगों के जन्म के समय रजोगुण का, स्थिति काल में सत्त्व वृत्ति का तथा प्रलय काल में तमोगुण का अवलम्ब करने वाले अजन्मा सृष्टि, स्थिति तथा विनाश के कारण भूत, वेदत्रयीमय, त्रिगुणात्मक भगवान् को नमस्कार।

भगवान् की सिद्धि किसी लौकिक प्रमाण से नहीं हो सकती। वे भक्त-श्रद्धाभाव के साथ भजन करने योग्य हैं। ब्रह्मा जी ने उन्हें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि प्रमाणों से परे सर्वथा प्रमाणरहित बताया। माया में आसक्त कोई भी व्यक्ति उन्हें समझने में असमर्थ है। वे ऋषि महर्षियों के मान्य तथा देवताओं के भी वन्दनीय हैं, वेद-शास्त्र प्रतिपादित नित्य आनन्दमय, निर्विषय, ज्ञानस्वरूप, अनादि हैं। शङ्कर जी ने यहाँ राम को कृष्णरूप भी बताकर विभिन्न अवतारों में भगवद् विष्णु के एकत्व का भी प्रतिपादन किया है। इस रूप में स्तुति करते हुए ब्रह्माजी ने उनके सम्बन्ध में अपने उद्‌गार व्यक्त किये।

अन्त में स्वयं अग्निदेव ने राम से कहा कि आपने जिस जानकी की रक्षा का भार तपोवन में मुझे सौंपा था उसे ग्रहण कीजिये। मारीच का वध करने के समय भगवान् राम ने सूक्ष्म रूपा सीता का अग्नि में प्रवेश करा दिया था और उनके माया रूप शरीर का अपहरण रावण ने किया था। यहाँ सीता त्रिलोकजननी लक्ष्मीरूपा बतायी गयीं हैं।

योगियों के समीपवर्ती भगवान्

ब्रह्माजी द्वारा स्तुति समाप्त होने तथा अग्नि द्वारा सीता के समर्पण के बाद इन्द्र ने स्तुति प्रारम्भ की।[1] उन्होंने भगवन्नाम को जगद्रूप वन के लिए दावाग्नि रूप तथा भवबन्धन से मुक्त करने वाला बताया। वे देवगण के दुःखों का नाश करने वाले हैं। मनुष्यरूपधारी हैं किन्तु वस्तुतः वे निराकार और स्तुत्य हैं अर्थात् सबके द्वारा स्तुति करने योग्य है। वे परमेश्वर परमानन्दरूप और पृथ्वी का भार उतारने वाले हैं। भगवान् शरणागतवत्सल हैं और उनका नाम शरणागतों के सभी दुःखों को मिटाने वाला हैं। बड़े बड़े योगी भी तपस्या और योग के द्वारा उनका चिन्तन करते हैं। वे भोगासक्त लोगों से सदा दूर और योगियों के सदा समीप रहते हैं। वे सच्चिदानन्दकन्द हैं। वे अपनी योग माया के गुणों से युक्त हो लीला के रूप मे मनुष्याकार प्रतीत होते हैं।

भरद्वाज ने कहा कि वे आदिमध्यावसानवर्जित हैं।[2] उन्होंने समस्त भूतों की रचना की है। पहले जल की रचना की और उसी में शयन किया। वे विश्वात्मा, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा हैं। लोकपितामह ब्रह्मा उन्हीं की नाभि से उत्पन्न हुए। अतः भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत् के ईश और सबके वन्दनीय हैं। भगवान् राम विष्णु के अवतार हैं, जानकी लक्ष्मी और लक्ष्मण शेषनाग हैं। अपनी माया के द्वारा वे स्वयं सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार विभु रूप आकाश सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी किसी से लिप्त नहीं है उसी प्रकार भगवान् भी किसी से लिप्त नहीं होते और अपनी चित् शक्ति से सबके साक्षी हैं। वे सभी जीवों के भीतर और बाहर सर्वत्र स्थित हैं वे पूर्ण होते हुए भी विच्छिन्न अर्थात् परिमित जैसे प्रतीत होते है। वस्तुतः वे एकदेशी नहीं, असीम हैं। वे ही जगत् जगदाधार और सबके परिपालक हैं। वे ही सबके भोक्ता और भोज्य हैं अर्थात् काल रूप से भोक्ता और अन्न रूप से भोज्य हैं। जो कुछ दिखाई देता है या सुना जाता है या स्मरण किया जाता है वह सब भगवद्रूप ही है। उनके अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। उनकी शक्ति से प्रेरित होकर ही माया अर्थात् प्रकृति अपने महत्, अहङ्कार आदि गुणों से सम्पूर्ण सृष्टि करती है। अतः इस सृष्टि का आरोप उन्हीं में किया जाता है। जिस प्रकार चुम्बक के सान्निध्य से लोहा आदि जड़ पदार्थ भी चलने लगते हैं उसी प्रकार भगवान् की दृष्टि पड़ने से ही माया अर्थात्

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग १३ श्लोक १४ से २८।

२. युद्धकाण्ड सर्ग १४ श्लोक २१ से ३१।

प्रकृति सम्पूर्ण जगत् की रचना करने लगती है। इस रचना के लिए प्रकृति रूप माया और पुरुष रूप ईश्वर का सान्निध्य आवश्यक है। समस्त विश्व की रक्षा करने के लिए भगवान् देहहीन होते हुए भी स्थूल रूप धारण करते हैं जो विराट् कहलाता है। उनका सूक्ष्म रूप सूत्र कहलाता है। विराट् रूप से ही हजारों अवतार होते है। कार्य समाप्त होने पर सभी रूप विराट् में ही प्रवेश कर जाते हैं।

शङ्कर जी द्वारा तारक-मन्त्रोपदेश

राज्याभिषेक के वर्णन के क्रम में स्वयं शंकर जी ने कहा है कि भगवान् माया का आश्रय लेकर सकल नर चेष्टा करते हैं।[1] वे स्वयं सुखज्ञानैकरूप तथा समस्त विषयानन्दरहित हैं और उन्हें सांसारिक राज्यसुखादि की अपेक्षा नहीं है फिर भी सांसारिक बन कर लोक लीला दिखाते हैं। उनके भ्रूभङ्ग से त्रिलोक क्षणभर में नष्ट हो जाता है। उनकी कृपा से इन्द्र की राज्यलक्ष्मी भी प्राप्त हो जाती है। भक्तों की अभिलाषा की पूर्ति के लिए वे माया का आश्रय ले मनुष्य रूप धारण करते हैं। वे आदि, मध्य और अन्तरहित अद्वितीय हैं। वे अपनी माया से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। फिर भी उससे लिप्त नहीं होते। वे स्वयं सर्वदा सुखसम्पन्न हैं। अपनी माया अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों से आवृत हो कर अपने शरणागत भक्तों का मार्ग प्रदर्शन करने के लिए देव, मनुष्य प्रभृति अनेक जन्म धारण कर अनेक लीलाएँ करते हैं। वे अपने अंश से सम्पूर्ण लोकों की रचना करते हैं। फणीश्वर शेषनागरूप से पृथ्वी को नीचे से धारण करते हैं तथा सूर्य, वायु, चन्द्रमा, औषधि, वृष्टि आदि रूप से पालन करते हैं तथा वे ही जठराग्नि के रूप में जीवों द्वारा भुक्त अन्नादि को प्राणापानोदानव्यानसमानरूप पञ्च वायुओं की सहायता से पचाकर सम्पूर्ण जगत् का पालन पोषण करते हैं। चन्द्रमा, सूर्य तथा अग्नि में जो तेज है, सभी प्राणियों में जो चैतन्य है तथा शरीरधारियों में जो धैर्य, शौर्य और आयुर्बल हैं वे सभी एक मात्र भगवान् के सत्त्व अर्थात् सत्ता हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उन्हीं के भेद हैं। वे ही काल, धर्म, चन्द्रमा और सूर्य के भेद से पृथक् पृथक् से मालूम पड़ते हैं किन्तु वस्तुतः वे एकमेवाद्वितीय ब्रह्म हैं। श्रुति, पुराण आदि में मत्स्य आदि रूप में उन्हीं के अवतारों का वर्णन है। संसार में सत, असत् रूप से जो विभाग हैं वे सब ब्रह्मरूप ही हैं। उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसीलिए उन्हें विभुरूप माना गया है। अनन्त

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग १५ श्लोक ५ से ८ तथा ५१ से ६३।

सृष्टि में जो कुछ उत्पन्न हो गया है या उत्पन्न होगा या हो रहा है उस स्थावर-जङ्गम आदि सारे प्रपञ्च में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे प्रकृति आदि से परे हैं। उनकी माया से विमोहित हो लोग उनके परमात्म तत्त्व को नहीं समझ पाते। उनके भक्तों की सेवा के प्रभाव से जिनका अन्तः-करण शुद्ध हो गया है उन्हीं को उनके अद्वितीय परमेश्वर रूप की झलक मिलती है। बाह्य पदार्थों में सत्त्व बुद्धि रखने वाले ब्रह्मा आदि भी उनके चित्स्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप को नहीं जान पाते। अतः ज्ञानी लोग उनके राम आदि किसी रूप का ध्यान कर भक्तिपूर्वक भजन करते हुए दुःखों को पार कर मुक्ति लाभ करते हैं। अन्त में शङ्कर जी ने भगवान् राम से कहा कि इसीलिए मैं अहर्निश भवानी के साथ काशी में आपका नामोच्चारण करते हुए कृतार्थ हो रहा हूँ तथा मुमुक्षुओं को आपके तारक मन्त्र 'राम' नाम का उपदेश करता हूँ।

हनुमान् को वर प्रदान

भगवान् राम के राज्याभिषेक के बाद सबकी विदाई के अवसर पर[1] हनुमान् जी ने उन से प्रार्थना की कि जब तक संसार में राम नाम का उच्चारण होता रहे तब तक वे इसी संसार में विद्यमान रहें। रामचन्द्र जी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा कि कल्पान्त में तुम मेरा सायुज्य प्राप्त करोगे। यही कारण है कि हनुमान् जी जीवित देवता माने जाते हैं। आज भी उनका नाम स्मरण कर लोग भय से छुटकारा पा जाते हैं।

स्वयं परमात्मा, कर्माध्यक्ष, निर्मल, कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि गुण रहित, निर्विकार तथा स्वानन्दतृप्त होते हुए भी राम ने संसार को उपदेश देने के लिए अश्वमेध यज्ञादि किया।[2]

मायामय जगत्

अगस्त्य मुनि ने भगवान् राम से प्रार्थना करते हुए कहा कि[3] वे सब के अन्तःकरण में साक्षी के रूप में विराजमान रहते हुए अपनी विज्ञान दृष्टि से सबके हृदय के भावों अर्थात् विचारों को भली भाँति जानते हैं। वे परम, नित्य प्रबुद्ध और निर्मल हैं। लीलापूर्वक मनुष्य रूप धारण करते हैं और अपनी महिमा से माया के गुणों से लिप्त नहीं होते। राम एक मात्र अनन्त, अचिन्त्य-

---

१. युद्धकाण्ड सर्ग १६ श्लोक १३ से १५।

२. युद्धकाण्ड सर्ग १६ श्लोक २७, २८।

३. उत्तरकाण्ड सर्ग १ श्लोक ६२ से ६४।

शक्ति, चिन्मात्र, अक्षर, अजन्मा तथा अपने तत्त्व को स्वयं समझने वाले हैं। माया के द्वारा वे अपने स्वरूप को गुप्त रखते हैं। रामचन्द्र जी ने भी अगस्त्य जी के कथन की पुष्टि करते हुए कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् मायामय है और यह माया मुझसे पृथक् भी नहीं है। इस प्रकार भगवद्गुणकीर्त्तन संसार में सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है।

अगस्त्य जी द्वारा सृष्टि क्रम वर्णन

अगस्त्य जी ने कहा कि रामचन्द्र जी साक्षात् नारायण, संसार की आदि रचना करने वाले, विभुरूप हैं।[1] स्थावर और जङ्गम जितने भी संसार में हैं वे सभी उन्हीं के स्वरूप हैं। उन्हीं की नाभि से उत्पन्न कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। अग्नि देव ने उन्हीं के मुख से वाणी के साथ जन्म लिया। उनकी भुजाओं से लोकपालसमूह, दोनों आँखों से से चन्द्रमा और सूर्य तथा दोनों कानों से दिशा-विदिशाएँ उत्पन्न हुईं। नासिका से प्राण तथा देव श्रेष्ट अश्विनीकुमार, जङ्घा जानु, ऊरु, जघन से भुवर्लोक आदि उत्पन्न हुए। उनकी कुक्षि से चार समुद्र, दोनों स्तनों से इन्द्र और वरुण तथा वीर्य से बाल्यखिल्य आदि महामुनि उत्पन्न हुए। उनके उपस्थ से यम, पायु से मृत्यु, क्रोध से त्रिलोचन भगवान् शङ्कर, अस्थियों से पर्वत तथा केशों से मेघ समूह प्रकट हुए। उनके लोमों से औषधियाँ और नखों से गर्दभ आदि की उत्पत्ति हुई।

अपनी माया शक्ति से युक्त वे ही विश्वरूप परम पुरुष हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में तारतम्य होने से अनेक रूपों में दिखाई देने लगते हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर देवता लोग यज्ञों में अमृत पान करते हैं। स्थावर जङ्गम रूप यह विश्व उन्हीं के द्वारा सृष्ट होता है तथा सभी उन्हीं का आश्रय लेकर जीते हैं। जिस प्रकार दूध में सम्पूर्ण रूप से घी व्याप्त रहता है उसी प्रकार व्यवहार रूप में भी सभी वस्तुएँ उन्ही में व्याप्त रहती हैं। सूर्य, चन्द्र आदि उन्हीं के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, भगवान् इन दोनों के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होते। वे सर्वगत, नित्य, अद्वितीय हैं। उन्हें ज्ञान दृष्टि प्राप्त व्यक्ति ही देख सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य जैसे प्रकाशमान को अन्धा नहीं देख सकता उसी प्रकार जिसे ज्ञान-चक्षु नहीं है वह भगवद्दर्शन नहीं कर सकता अर्थात् उनके दर्शन के लिए ज्ञानचक्षु आवश्यक है। योगी लोग उपनिषद् ज्ञान के माध्यम से अनात्म पदार्थों का त्याग करते हुए अपने भीतर ही भगवान् को सदा खोजते हैं। उन योगियों में यदि भगवद्भक्ति लेशमात्र भी रहती है तो उसके प्रभाव से वे चिन्मात्र रूप उनका दर्शन कर पाते हैं, अन्यथा नहीं।

---

१. उत्तरकाण्ड सर्ग २ श्लोक ६३ से ७७।

मुनि ने प्रार्थना का अवसान करते हुए कहा कि भगवान् दिग्देश कालादि से अपरिच्छन्न, अनन्य, एकमेवाद्वितीय, चिन्मात्र, अविनाशी, अजन्मा, चलन आदि क्रियारहित, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, अनन्तगुणसम्पन्न, मायारहित तथा भक्त-जनों में सदा अभिन्न रूप से विद्यमान हैं।

अगस्त्य जी ने बाली और सुग्रीव की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में भगवान् राम की स्तुति करते हुए[1] उन्हें सर्वेश्वर बताया और कहा कि ब्रह्माजी द्वारा स्तुति किये जाने पर उन्होंने माया रूप मनुष्य देह धारण कर पृथ्वी का भार हरण किया। यहां अगस्त्य जी ने उन्हें सर्वभूतान्तरस्थ, नित्यमुक्त, चैतन्य स्वरूप तथा अखण्डानन्द रूप बताते हुए कहा कि उन्होंने जो कुछ कर दिखाया है उसमें उनका कोई विशेष पराक्रम नहीं हैं। फिर भी सांसारिक लोग उनका यशोगान करते हैं। इस प्रकार उनका कीर्तन करने से लोगों को पापों से छुटकारा मिल जाता है।

सर्वव्यापी परमात्मा

भगवान् जगत् का पालन करने वाले हैं और वे जन्म मृत्यु आदि से रहित हैं। वे सुर और असुर सभी के द्वारा सर्वदा वन्दित स्वयं हरिनारायण अविनाशी हैं। सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम विश्व की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा उनकी नाभि से निकले हुए हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर देवता लोग युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। योगी लोग ध्यान में उन्हीं का जप करते हैं। रावण के कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए अगस्त्य जी ने फिर कहा था कि दैत्य, दानव और राक्षस देवताओं द्वारा निहत होने पर उत्तम स्वर्ग लोक प्राप्त कर स्वर्ग सुख प्राप्त करते है और स्वर्ग सुख प्राप्त कर भोग क्षीण होने पर पुन: भ्रष्ट होकर पृथ्वी पर आते हैं। पूर्वार्जित पुण्य और पापों के फलस्वरूप तदनुसार जन्म लेते और मरते हैं किन्तु जो विष्णु के द्वारा मारे जाते हैं वे विष्णु पद प्राप्त करते हैं। यह सुनकर रावण ने उनसे युद्ध करके ही मोक्ष प्राप्त करने का निश्चय किया था।

अनन्तर अगस्त्य मुनि ने ध्यान योग्य भगवद्रूप का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि वस्तुत: वे रूप रहित हैं किन्तु माया रूप धारण करते हैं। वे नद-नदी सभी स्थावर वस्तुओं मे व्याप्त हैं। ओंकार, सत्य, सावित्री, पृथ्वी, समस्त जगत् के आधार शेषनाग रूप वे ही हैं। सभी देवता, समुद्र, काल, सूर्य, चन्द्रमा, सूर्योदय, दिन-रात, यम, वायु, अग्नि, इन्द्र, मृत्यु, पर्जन्य अर्थात् मेघ,

---

१. उत्तरकाण्ड सर्ग ३ श्लोक २५-२६।

वसुसमूह, ब्रह्मा, रुद्र तथा जितने भी देव और दानव हैं वे सभी तद्रूप ही हैं। वे विद्युत् रूप हो चमकते हैं, अग्नि रूप हो प्रज्वलित होते हैं, विष्णु रूप से सबका पालन करते हैं तथा रुद्र रूप हो सबका विनाश करते हैं। वे निर्विकार सनातन विष्णु सब तरह की लीला करते हैं। चर अचर युक्त यह सम्पूर्ण त्रिलोक एक मात्र त्रिभुरूप उन्हीं से व्याप्त है। लक्ष्मी सदा उनके साथ विराजमान रहती हैं सब कुछ होते हुए भी उनका दर्शन उन्हीं को प्राप्त होता है जिन पर उनकी कृपा होती है। यज्ञ, दानादि दूसरे रूपों से उनका दर्शन नहीं हो सकता। उनके भक्त, प्राणों को उन्हीं में अर्पण करने वाले, वेदान्त प्रदर्शित विचारों से पवित्र दृष्टि वाले तथा निष्पाप महात्मा ही उनके दर्शन कर सकते हैं। इस प्रकार अगस्त्यजी ने भक्ति भाव से लक्ष्मी सहित भगवान् का भजन करने का उपदेश दिया और बताया कि अपनी माया जगन्माता के साथ वे दशरथ के पुत्र राम के रूप में वन में भ्रमण करेंगे। एतदनुसार रावण ने उनके साथ युद्ध करके उनके हाथों से ही मुक्ति प्राप्त करने का निश्चय किया था।

श्रीराम से रावण की चर्चा करते हुए नारदजी ने[1] राम को स्तुति रूप में परमेश्वर, सर्वज्ञ, विज्ञानदृष्टि वाला, त्रिकालदर्शी, विकल्प रहित अर्थात् अद्वितीय, भक्तमार्गदर्शक तथा अनेक रूपों में सर्वलोक पूजित होते हुए भी मनुष्य रूप में अवतरित और अनासक्त भाव से विषयादि का सेवन करने वाला बताया।

विरक्त मुनिरूप राम

राजगद्दी के बाद एक बार पति की सेवा करते हुई सीता ने उन्हें देवताओं का भी देवता[2], जगन्नाथ, परमात्मा, सनातन, चिदानन्द, आदि-मध्यान्त रहित तथा अशेषकारण अर्थात् सबका कारण बताया। उन्होंने कहा कि देवताओं ने मुझे एकान्त में कहा है कि तुझ चिच्छक्ति के साथ राम भूतल पर ठहरे हुए हैं। इस प्रसङ्ग में ऋषियों ने सीता को जगद्धात्री कहा है। सीता को बाल्मीकि के आश्रम में लक्ष्मण जी द्वारा भेजकर विज्ञानदृक् अद्वितीय, आदिदेव, परमेश्वर राम संसार से विरक्त हो मुनियों जैसा रहने लगे। मायारूप सीता से अलग होने पर परमेश्वर राम का वैराग्य होना स्वाभाविक ही था।

---

१. उत्तरकाण्ड सर्ग ४ श्लोक १२, १३, १५।

२. उत्तरकाण्ड सर्ग ४ श्लोक ३५, ६३।

रामगीता में अध्यात्म

उत्तरकाण्ड का पञ्चम सर्ग रामगीता के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् राम के गुणों का वर्णन करते हुए लक्ष्मण जी ने उन्हें शुद्धबोध[1] अर्थात् शुद्ध ज्ञान स्वरूप बताया। उनके अनुसार वे सब के आत्मा, स्वामी और निराकार हैं। परम भागवतों के सत्सङ्गी ही अपनी ज्ञान दृष्टि से उनका दर्शन कर सकते हैं। भगवान् के चरण-कमल की सेवा संसार के बन्धन से छुटकारा दिलाने वाली है। ज्ञानोपदेश से अज्ञानान्धकार स्वयं विलीन हो जाता है। भगवान् राम ने उपदेश करते हुए उन्हें बताया कि सर्वप्रथम मनुष्य को अपने वर्ण और आश्रम के अनुकूल बताये गये धर्मों का पालन करना चाहिये। तदुपरान्त योग दर्शन में बताये गये शम, दमादि साधन सम्पन्न हो आत्मज्ञान लाभार्थ सद्‌गुरु की शरण में जाना चाहिये। कर्म द्वारा देहान्तर की प्राप्ति होती है। कर्म धर्म और अधर्म रूप होते हैं। अतः, कर्म के फल प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के होते हैं। एतदनुसार ही पुनः शरीर धारण करना पड़ता है जिससे पुनः कर्म होना अनिवार्य हो जाता है। इस विधि से यह संसार चक्र बराबर चलता रहता है। इस संसार चक्र का मूल कारण अज्ञान ही है। अतः संसार चक्र से अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्त होने का उपाय अज्ञान का नाश ही बताया गया है। अज्ञान अर्थात् अविद्या सकाम के नाश का उपाय ज्ञान अर्थात् विद्या ही एकमात्र है, अविद्याजन्य कर्म नहीं क्योंकि यह उस ज्ञान का विरोधी है। सकाम कर्म द्वारा अज्ञान हानि अर्थात् अज्ञान का नाश तथा राग का भी संक्षय सम्भव नहीं है क्योंकि उनसे तो दूसरे दोष भी उत्पन्न हो सकते है। इस क्रम से पुनः संसृति अर्थात् संसार में पुनरागमन अनिवार्य हो जाता है। अतः, बुद्धिमान् लोगों को ज्ञानवान और विचारवान् होना चाहिये। कुछ लोगों का कहना है कि कर्म वेद प्रतिपादित है और विद्या अर्थात् ज्ञान पुरुषार्थ का साधन है। कर्त्तव्यता अर्थात् कर्म करना प्राणियों के लिए आवश्यक बताया गया। अतः कर्त्तव्य विद्या अर्थात् ज्ञान का सहायक हो जाता है। कर्म नहीं करने में दोष भी श्रुति ने बताया है, अतः मुमुक्षुओं को सर्वदा कार्यरत रहना चाहिये, यह कर्म निष्काम होना चाहिये, अर्थात् फल की इच्छा से नहीं। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी यह निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

---

१. उत्तरकाण्ड सर्ग ५ श्लो ४ से ६२।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः[1] ।।

उपर्युक्त श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने निर्लिप्त हो कार्य करते जाने का उपदेश दिया और यह भी कहा कि मैं स्वयं सर्वदा कार्यरत रहता हूँ। यदि मैं कार्य करना छोड़ दूँ तो दूसरे लोग भी मेरे ही पथ के पथिक होकर कार्य करना छोड़ देंगे और इसके फलस्वरूप अनर्थ का सामना करना पड़ेगा।

कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि विद्या अर्थात् ज्ञान स्वतन्त्र है, अतः विद्या निश्चय ही फल देने वाली है। उसे मनसा अर्थात् मन से भी अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है। इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वेद प्रतिपादित अध्वर अर्थात् यज्ञ सत्कार्य होते हुए भी अन्य कारक आदि की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार विधि पूर्वक प्रतिपादित कर्मों के द्वारा ही ज्ञान मुक्ति के मार्ग में साधक हो सकता है अतः, मुमुक्षु को भी सर्वदा कार्यरत रहना चाहिये।

इसके उत्तर में सिद्धान्त उपस्थित करते हुए बताया गया है कि देहाभिमान से कर्म होता है और अहङ्कार नष्ट होने पर विद्या सिद्ध होती है अर्थात् ज्ञान प्रबल होता है। विशुद्ध विज्ञान से प्रकाशित चरम आत्मवृत्ति विद्या अर्थात् आत्मज्ञान कहलाती है। सम्पूर्ण कारकादि के सहयोग से कर्म उत्पन्न होता है किन्तु विद्या सम्पूर्ण कारकादि का नाश कर देती है क्योंकि ये अनित्य हैं। जहाँ विद्या अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होगा वहाँ अविद्या अर्थात् अज्ञान का विनाश अवश्यम्भावी है। प्रकाश के सम्मुख अन्धकार टिक नहीं सकता। अतः सुधी अर्थात् विद्वान् मनुष्य को चाहिये कि वह निवृत्त सर्वेन्द्रिय-गोचर हो अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त हो, आत्मानुसन्धान परायण अर्थात् सदा आत्मानुसन्धान में रत हो अशेषतः अर्थात् सर्वतोभावेन सभी कर्मों का सर्वथा त्याग कर दे क्योंकि विद्या का विरोधी होने के कारण कर्मों का उस विद्या से अर्थात् ज्ञान से समुच्चय नहीं हो सकता। माया के अन्धकार से आच्छन्न रहने के कारण मनुष्य का शरीरादि में आत्मभाव रहता है। जब तक उसका इन इन्द्रियादि के प्रति आत्मभाव रहता है तब तक उसे मीमांसा दर्शन मार्ग से यज्ञादि, वैदिक कर्मानुष्ठान कर्त्तव्य प्रतीत होते हैं। 'नेति' अर्थात् 'न इति' इत्यादि वाक्यों से अखिल अर्थात् सम्पूर्ण अनात्म पदार्थों का निषेधकर अपने परमात्मरूप का ज्ञान हो जाने पर सर्वविध कर्मों का

---

१. श्रीमदभगवद्गीता अध्याय ३ श्लोक १९, २३।

परित्याग कर देना चाहिये। जब परमात्मा और आत्मा अर्थात् जीवात्मा में भेद को हटाने वाला भास्वर विज्ञान अपने अन्तःकरण में स्पष्ट अवभासित हो जाता है तब आत्मा की संसार प्राप्ति का कारण माया अपने कारकादि सहित स्वयं प्रविलीन हो जाती है अर्थात् विलुप्त हो जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि माया में फँसकर आत्मा संसार बन्धन में पड़ा रहता है किन्तु जब उसे 'जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यम्' का परिज्ञान हो जाता है अर्थात् आत्मा अपने को परमात्मा से अभिन्न समझ लेता है तब माया अपने बन्धनजाल सहित स्वयं उनसे अलग हो जाती है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वह माया अर्थात् अविद्या फिर कार्य-कारिणी हो सकती है या नहीं। इसके उत्तर मे कहा गया है कि श्रुति प्रमाण है कि जब वह विहित उपायों से नष्ट हो जायगी तब वह अपना कार्य करने में समर्थ हो ही नहीं सकती क्योंकि परमार्थ तत्त्व विज्ञानमात्र अमल अर्थात् मल रहित तथा अद्वितीय हैं। अतः आत्मबोध हो जाने पर माया अर्थात् अविद्या पुनः उत्पन्न नहीं हो सकती। अविद्या एक बार नष्ट होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होती। अतः आत्मा को यह विचार भी नही हो सकता कि मैं किसी कार्य विशेष का कार्य करता हूँ। विद्या अर्थात् ज्ञान स्वतन्त्र है। अतः आत्मा के मोक्ष के लिए अकेली ही समर्थ प्रतीत होती है विद्या अर्थात् ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मा का मोक्ष प्राप्त हो जाता हैं। दूसरे शब्दों में वह आत्मशक्ति परमात्मशक्ति में विलीन हो जाती है। इसकी पुष्टि के लिए तैत्तिरीय श्रुति का उद्धरण देते हुए कहा गया है कि समस्त कार्यों का त्याग करना ही उचित है। यह श्रुति कहती है, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु.'[1]। अर्थात् न धन से ही अपितु केवल त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति सम्भव है। अन्य श्रुति भी कहती है—'एतावदरे खल्वमृतत्वम्'[2] अमृतत्व अर्थात् मोक्ष का साधन ज्ञान ही है, कर्म नहीं। यज्ञ आदि ज्ञान के साधन नहीं हो सकते क्योंकि दोनों के फल पृथक पृथक् होते हैं। यज्ञ बहुत कारकों अर्थात् होता, ब्रह्मा, ऋत्विक् आदि द्वारा सम्पन्न होता है किन्तु ज्ञान इसके विपरीत है। इसके लिए अन्य लोगों की अपेक्षा नहीं होती। यह कैवल्य ज्ञान आत्मा को ही होता है जिसके कारण अनात्म वस्तुओं से सम्बन्ध विच्छेद कर वह मुक्त हो जाता है। अज्ञानी लोग ही ऐसा सोचते हैं कि कर्म का त्याग करने से उन्हें प्रायश्चित्त का भागी

---

१. तैत्तिरीय अध्याय १०/१०।

२. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/१५।

बनना पड़ेगा। तत्त्वज्ञानी ऐसा नहीं सोचते। अतः विकारमुक्त चित्तवाले ज्ञानी पुरुषों के लिए विहित कर्मों का भी विधिपूर्वक त्याग कर देना उचित है।

तत्त्वमसि

शुद्ध मानस अर्थात् शुद्ध चित्त होकर श्रद्धापूर्वक गुरु की कृपा से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व को समझकर सुमेरु पर्वत के तुल्य प्रकम्पन रहित अर्थात् निश्चल और सुखी हो जाना चाहिये।

'तत्त्वमसि'[1] महावाक्य में 'तत्' पद परमात्मा का बोधक है और 'त्वम्' जीवात्मा का तथा 'असि' पद इन दोनों ही पदों की एकता का सम्पादन करता है अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही एक हैं, ऐसा सम्बन्ध स्थापित करता है। जीवात्मा और परमात्म में जीवात्मा प्रत्येक अर्थात् अन्तःकरण का साक्षी है और परमात्मा परोक्ष अर्थात् इन्द्रियागोचर अथवा इन्द्रियातीत है। यह दोनों का वाच्यार्थ हुआ किन्तु इस प्रकार के अर्थ में विरोध उत्पन्न होता है। अत: वाच्यार्थरूप विरोध का त्याग कर लक्षणा द्वारा लक्षित दोनों के शुद्ध चैतन्य को ग्रहण कर ईश्वर और आत्मा में एकीभाव समझ एकीभाव में स्थित हो जाना ही विधेय है। ऐसी स्थिति में पहुँचने पर मुमुक्षु मुक्त स्थिति को प्राप्त करता है। माण्डूक्योपनिषद् भी कहती है—'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्'[2] इस मन्त्र में भी आत्मा और ब्रह्म की एकता बतायी गयी है। आगे इसी उपनिषद् में कहा गया है 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।'[3] अर्थात् ब्रह्म सबका ईश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत् की योनि अर्थात् उद्गमस्थान, अर्थात् सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है।

आगे तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या लक्षण द्वारा की गयी है। पद या वाक्य का अर्थ समझने के लिए तीन शक्तियों का उपयोग किया जाता है। सर्वप्रथम है अभिधा। अभिधा द्वारा पद या वाक्य का यथावत् ज्ञान होता है अर्थात् श्रवण मात्र से ज्ञान हो जाता है। उसमें कुछ विशेष प्रयत्न की

१. 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'-छान्दोग्योपनिषद् (६/६/७)।
२ माण्डूक्योपनिषद् २।
३. माण्डूक्योपनिषद् ६।

आवश्यकता नहीं होती । यदि हम कहें कि 'बालक खाता है ।' तो इसमें बालक का भोजन करने का व्यापार स्पष्ट हो जाता है । यह अभिधाशक्ति ज्ञान अर्थात् अभिधार्थ है ।

यदि कहें, 'गङ्गायां घोप:' तो इसका अभिधार्थ हुआ गङ्गा में अर्थात् गङ्गा के प्रवाह में झोंपड़ी । यहाँ अभिधार्थ से काम नहीं चलता क्योंकि गङ्गा के प्रवाह में झोपड़ी नहीं हो सकती । यहाँ लक्षणा शक्ति द्वारा तीर या तट का बोध होता है अब उसका अर्थ हो गया गङ्गा के तट पर झोंपड़ी अर्थात् गोशाला । झोंपड़ी गङ्गा के तट पर है तो इससे यह अभिव्यञ्जित होता है कि उसमें शीतत्व और पावनत्व भी है । शीतत्व और पावनत्व का ज्ञान व्यञ्जना शक्ति से हुआ । यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ अभिधार्थ का बाध होता है वहाँ लक्षणा से अर्थ स्पष्ट किया जाता है ।[1]

लक्षणा भी तीन प्रकार की होती है— (१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा और (३) जहदजहल्लक्षणा । जहल्लक्षणा में अभिधार्थ का सर्वथा त्याग करके उसका सर्वथा नया अर्थ किया जाता है यथा-'गङ्गायां घोप.' । गङ्गा-प्रवाह में घोप अर्थात् गोशाला का होना सम्भव नहीं है अर्थात् 'गङ्गायां' का अर्थ गङ्गा प्रवाह न करके 'गङ्गातट' करना उचित है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में यदि जहल्लक्षणा का उपयोग किया जाय तो 'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों का ही त्याग करना पड़ेगा जो अभीष्ट नहीं है । अत: यहाँ जहल्लक्षणा का उपयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि 'तत्' पद के वाच्यार्थ ईश्वर और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ 'आत्मा' दोनों के चैतन्य का ही त्याग हो जाता है । अत: यहाँ जहल्लक्षणा उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि दोनों चैतन्यों की एकता ही यहाँ अभीष्ट है ।

अब हमें देखना है कि तत्त्वमसि' महावाक्य में अजहल्लक्षणा की प्रवृत्ति हो सकती है या नहीं । अजहल्लक्षणा में अभिधार्थ का त्याग न करते हुए दूसरे अर्थ का भी ग्रहण करते हैं । यथा 'यष्टी: प्रवेशय' कहने से यष्टि अर्थात् डडों का प्रवेश समझा जायेगा किन्तु यदि भोजन के समय कहा जाय कि 'यष्टी: प्रवेशय' तो इसका अर्थ होगा 'यष्टिधरों अर्थात् दण्डधारियो का प्रवेश कराओ ।' यहाँ यष्टि शब्द का परित्याग नहीं करते हुए 'यष्टि' का अर्थात् यष्टिधरों अर्थात् दण्डधारियों के प्रवेश का तात्पर्य हो जाता है । दूसरा

१. मुख्यार्थवाचकपदस्यामुख्यार्थे या वृत्ति: सा लक्षणा ज्ञेया । —सिद्धान्तमुक्तावली-प्रभा टीका ।

उदाहरण है 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' अर्थात् कौओं से दधि की रक्षा की जाय। चूहा तथा अन्य जीव जन्तुओं से भी रक्षा का तात्पर्य है। तीसरा उदाहरण है 'छत्रिणो यान्ति' यहाँ 'छत्रिणो' पद का अर्थ हुआ छाताधारी। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में मुख्यपद यष्टि, काक, छत्री का त्याग न करते क्रमशः यष्टिधारी, काक, बिल्ली कुक्कुर प्रभृति तथा छत्रधारियों का बोध होता है। अत. यहाँ अजहत्स्वार्था लक्षणा हुई। तत्त्वमसि महावाक्यों में अजहत्स्वार्था लक्षणा भी नहीं है। 'तत्' और 'त्वम्' पदो के वाच्यार्थ में यदि कुछ विरोध दिखाई देता है तो अन्य अर्थ सम्मिलित करने से भी विरोध दूर नहीं होगा। अतः अजहल्लक्षणा द्वारा इन दोनों पदों का एकत्व सिद्ध नहीं होता।

संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन करते हुए अध्यात्मरामायण की रामगीता में बताया गया है कि 'सोऽयम्' अर्थात् 'यह वही है' इन दोनों पदों के अर्थ के समान भागलक्षणा ही निर्दोष सिद्ध होती है। यहाँ यदि कहा जाय 'सोऽयम्' तो परोक्ष 'सः' अर्थात् वह और अपरोक्ष 'अयम्' अर्थात् यह इन दोनों की परोक्षता और अपरोक्षता का त्याग कर दिया जाय तो दोनों ही अवस्थाओं में 'सः' और 'अयम्' की एकता सिद्ध हो जाती है।अर्थात् तत् और त्वम् अर्थात् तत् (ब्रह्म) और त्वम् (आत्मा) की एकता सिद्ध हो जाती है।

इसकी पुष्टि में उपसंहार रूप में वेदान्तसार का यह वाक्य उद्धृत किया जा सकता है[1] :

'यथा सोऽयं देवदत्त इतिवाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसी'तिवाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् 'वही यह देवदत्त' कहने से पूर्वकाल में कथित देवदत्त और अभी संकेत किया जाता हुआ देवदत्त एक ही व्यक्ति है, क्योंकि उस समय में कथित और इस समय में कथित, इन दोनों विशेषणों को अलग कर दिया जाय तो 'देवदत्त' मात्र शेष रहता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी परोक्ष 'तत्' पद और अपरोक्ष 'त्वम्' पद में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट अंशों का परित्याग कर देने से अविरुद्ध, अखण्ड चैतन्यमात्र ही लक्षित होता है इस प्रकार जीव और ब्रह्म

---

१. वेदान्तसार २७।

की एकता सिद्ध हो जाती है। 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात् जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

मत: परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥[1]

अर्थात् जिस प्रकार मणियों का समूह एक सूत्र में गुंथा हुआ रहता है उसी प्रकार एक भगवान् रूपी माला में ही सभी पिरोये हुए हैं। कुछ भी अलग नहीं है।

शरीरादि का विवेचन

शरीर पृथ्वी, अप, तेज वायु और आकाश इन पञ्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न, दुःख सुखादि कर्म योगों का आलय अर्थात् आश्रय, अच्छे बुरे कर्मों से प्राप्त होने वाला, आदि-अन्त वाला और मायामय बताया गया है। यह आत्मा का स्थूल शरीर है। पूर्ण विवरण पहले दिया जा चुका है। विद्वान् सूक्ष्म मन, बुद्धि, दशेन्द्रिय (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय), पञ्च प्राण (प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान) कुल १६ अङ्गों से युक्त और अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों से उत्पन्न सूक्ष्मशरीर को आत्मा का द्वितीय शरीर बताते हैं। यह सूक्ष्म शरीर भोक्ता के सुख-दुःख आदि का कारण बतलाया गया है। अब जीव का तृतीय शरीर बताया जा रहा है। यह अनादि अनिर्वचनीय, मायामय कारण शरीर है।

आत्मा उपाधिभेद से देहादि से सर्वदा पृथक् है। अतः साधक को क्रमशः अपने में ही आत्मा का अवधारण करना चाहिये अर्थात् उपाधियों का त्याग करते हुए अपने हृदय में ही समक्ष उसका चिन्तन मनन करना चाहिये। स्फटिकमणि जिस प्रकार विभिन्न रंगों की वस्तुओं के सम्पर्क में आकर स्वच्छ होता हुआ भी तद्रूप रंगवाला दिखाई देने लगता है उसी प्रकार आत्मा भी अन्नमयादि विभिन्न कोशों में उनके सम्पर्क में आया हुआ जैसा भासित होने लगता है किन्तु सर्वविध विचार करने पर यह अद्वितीय होने के कारण असङ्गरूप तथा अज अर्थात् जन्मादिरहित स्पष्ट होता है।

यहाँ अन्नमयादि कोशों का उल्लेख करना आवश्यक होता है जिसके लिए पहले बुद्धि के सम्बन्ध में थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।[2]

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७ श्लोक ७।
२. वेदान्तसार १३ से १७।

'बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः' अर्थात् अन्त.करण की निश्चयात्मिका वृत्ति ही बुद्धि है। उसी प्रकार 'मनो नाम सङ्कल्पविकल्पिकान्तःकरणवृत्तिः' अर्थात् अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति ही मन है। इन्हीं दोनों अर्थात् बुद्धि और मन में चित्त और अहङ्कार का अन्तर्भाव हो जाता है। ये सम्मिलित रूप आकाशादिगत सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं। प्रकाशात्मक होने के कारण इनका कार्य भी सात्त्विकांश ही है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर यह बुद्धि विज्ञानमय कोश कहलाती है। 'इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञान-मयकोशो भवति।' इसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दु खित्व आदि का अभिमान होने के कारण इहलोक और परलोक गामी यह व्यावहारिक जीव कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों के सहित मन मनोमय कोष कहलाता है। पूर्वकथित पाँच प्रकार प्राणों के साथ कर्मेन्द्रियों का सम्मिलन प्राणमय कोष कहलाता है। उपर्युक्त तीनों कोशों में विज्ञानमय कोष ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूप है, मनोमयकोष इच्छाशक्तिमान् करणरूप और प्राणमय कोष क्रियाशक्तिमान् कार्यरूप है। इन तीनों कोषों का यह सम्मिलन शूक्ष्म शरीर कहलाता है।

पञ्च महाभूतों का स्थूलरूप पञ्चीकृत कहलाता है। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। विराट् चैतन्य की ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चतुर्विध स्थूल शरीर की समष्टि ही स्थूल शरीर अन्नविकार के कारण अन्नमयकोष कहलाती है। यही स्थूल भोगायतन स्थूल शरीर, जाग्रत् आदि है। इस प्रकार पूर्वोक्त रूप में पञ्चीकृत पञ्चभूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति हुई है।

बुद्धि त्रिगुणात्मिका होती है। स्वप्न, जागरण और सुषुप्ति ये तीन इस बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। इन तीनों वृत्तियों का परस्पर एक दूसरी में व्यभिचार अर्थात् सम्मिश्रण होने से ये परब्रह्म परमात्मा में मिथ्या हैं क्योंकि यह परब्रह्म नित्य और कल्याण रूप है। उसमें इन वृतियों का सर्वथा अभाव है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा चेतन आत्मा के संघातरूप से अर्थात् सम्मिलित रूप से बुद्धि की वृत्ति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। तमोमूला अर्थात् तमोगुण से उत्पन्न होने के कारण यह वृत्ति अज्ञलक्षणा अर्थात् अज्ञानरूपा है और जब तक यह वृत्ति विद्यमान रहती है तब तक ही भवोद्भव अर्थात् संसार में जन्म होता रहता है।

नेति नेति इत्याति श्रुति प्रमाणों से अखिल संसारादि का निराकरण अर्थात् बोध करके तथा हृदय में चिद्घनामृत अर्थात् चैतन्य रूप अमृत का आस्वादन करते हुए सारतत्त्व सत् अर्थात् ब्रह्म को अपनाकर सम्पूर्ण संसार का उसी

प्रकार त्याग कर देना चाहिए जिस प्रकार कच्चे नारियल के रस अर्थात् पानी को पीकर लोग उसके आवरण रूप खोखले को फेंक देते हैं।

आत्मा

आत्मा का परिचय देते हुए भगवान् राम ने लक्ष्मण जी से कहा कि आत्मा न कभी मरता है, न जन्म लेता है। वह न कभी घटता है न बढ़ता है। वह सदा पुरातन है। यह सभी अतिशयों से रहित, सुखात्मक, स्वप्रकाशमान सर्वगत और अद्वितीय है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥८६॥[1]

कठोपनिषद् का भी वाक्य है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥८७॥[2]

सारांश यह है कि आत्मा न मरता है, न जन्म लेता है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता।

इस प्रकार आत्मा, जो ज्ञानमय और सुखात्मक है, में दुःखमय भव अर्थात् संसार की प्रतीति नहीं हो सकती। यह तो अध्यासवश अज्ञान के कारण ही प्रकाशित जान पड़ता है। ज्ञान तथा अज्ञान का परस्पर विरोध है, अतः ज्ञान हो जाने पर यह अज्ञान क्षण मात्र में विलीन हो जाता है। यहाँ अध्यास अथवा आरोप के सम्बन्ध में कुछ विवेचन आवश्यक है। यह विवेचन पहले भी हो चुका है। अध्यारोप की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने बताया है, 'वस्तुनि अवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।' अर्थात् वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है। जैसे अन्धकार में रस्सी को देखकर लोग उसे सर्प समझ लेते हैं। वस्तुरूप रस्सी में अवस्तु सर्प का आरोप ही अध्यारोप या अध्यास कहलाता है उसी प्रकार वस्तुरूप आत्मा या ब्रह्म में अवस्तुरूप

१. गीता अध्याय २ श्लोक २०।
२. कठोपनिषद् १/२/१८।

संसार का अध्यास करना उचित नहीं। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अध्यास का विवेचन करते हुए अध्यातमरामायण में कहा गया है—

> यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
> दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
> असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
> रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ।।८८।।[1]

अर्थात् भ्रमवश अन्य में अन्य की प्रतीति होना ही विद्वानों के विचार से अध्यास कहा गया है। जिस प्रकार अन्धकार में असर्प रस्सी में सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार भ्रमवश ईश्वर में जगत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म विकल्प और माया रहित, सबका कारणभूत, निरामय, अद्वितीय, परमात्मा है किन्तु उस में सर्वप्रथम अहङ्काररूप अध्यास की कल्पना की जाती है। साक्षीरूप आत्मा में इच्छा, अनिच्छा, रागद्वेष, सुख-दुःख आदि धर्म वाली बुद्धि की वृत्तियाँ ही संसृति अर्थात् जन्म-मरण रूप संसार का कारण हैं क्योंकि प्रसुप्ति की अवस्था में इनका अभाव हो जाता है और सुख स्वरूप से आत्मा विभावित होता है अर्थात् उसका भान हमें होता है। अनादि अविद्या से उत्पन्न बुद्धि में बिम्बित अर्थात् प्रतिबिम्ब रूप चैतन्य का प्रकाश ही जीव कहा गया। बुद्धि के साक्षी के रूप में आत्मा उससे पृथक् है। परमात्मा रूप वह बुद्धि से अपरिच्छिन्न है। बुद्धि तो प्रकृति से उत्पन्न है। वह आत्मरूपा नहीं हो सकती। आत्मा चेतन है और प्रकृति का विकार होने के कारण बुद्धि अचेतन है किन्तु आत्मा और बुद्धि के एकत्र रहने पर अन्योन्याध्यास होने के कारण क्रमशः उनकी चेतना और जड़ता ठीक उसी प्रकार प्रतीत होती है जिस प्रकार अग्नि में तपा हुआ लोहा। आग में तपे हुए लोहे में अग्नि और लोहे का तादात्म्य हो जाने से लोहे का आकार अग्नि में और अग्नि की उष्णता लोहे में प्रत्यक्ष होती है। उसी प्रकार आत्मा और बुद्धि का तादात्म्य हो जाने के कारण आत्मा की चेतनता बुद्धि आदि में और बुद्ध्यादि की जड़ता आत्मा में प्रतीत होने लगती है। इसी अध्यास के कारण बुद्धि शरीर आदि को ही लोग आत्मा समझने लगते हैं।

इस प्रकार लक्ष्मण जी को अध्यात्म का उपदेश देते हुए भगवान् राम ने बताया कि गुरु के उपदेश से तथा वेदवाक्यों का अनुसरण करते हुए विद्या का अनुभव अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर अपने भीतर ही स्थित उपाधिरहित आत्मा का साक्षात्कार करके अर्थात् आत्मज्ञानी हो आत्मारूप से प्रतीत होने

---

१. अध्यात्मरामायण सर्ग ५१.क ३६।

वाले सभी जड़ पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए। ऐसी स्थिति में पहुँचने पर यह ज्ञात हो जाता है कि मैं स्वयं प्रकाशरूप, अजन्मा, अद्वितीय, अनवरत भासमान, अत्यन्त निर्मल, विज्ञानघन, निरामय, सम्पूर्ण, क्रियारहित तथा सर्वथा आनन्दमय हूँ। मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्य शक्तिमान, अतीन्द्रिय, ज्ञानरूप, विकृतिरहित तथा अनन्तपार हूँ। वेदवादी विद्वान् हृदय में दिन रात ब्रह्म का चिन्तन करते है। जिस प्रकार नियमपूर्वक सेवित औषधि रोगों का नाश करती है उसी प्रकार आत्मा का अखण्ड रूप में चिन्तन करने वाले विचारक के अन्तःकरण में उत्पन्न विशुद्ध भावना शीघ्र ही कारकादि भावना सहित अविद्या का नाश कर देती है।

आत्मचिन्तन करने वालों के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए बताया गया है कि वह एकान्त स्थान में बैठकर इन्द्रियों को तत्तत् विषयों से सर्वथा हटा कर अन्तःकरण को अपने अधीन कर आत्मस्थ हो, अन्य साधनों का आश्रय नहीं लेते हुए विज्ञान दृष्टि से केवल आत्मा की ही भावना करे अर्थात् आत्मचिन्तन में ही लीन रहे।

प्रणव वर्णन

समाधि के पहले सम्पूर्ण चराचर जगत् को ॐकार मात्र समझना चाहिये। जगत् ही वाच्य है और प्रणव अर्थात् ॐकार इसका वाचक है। ऐसी प्रतीति अज्ञानवश ही होती है। बोध हो जाने पर ऐसी बात नहीं रहती। अब प्रणव अर्थात् ॐकार की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। ओंकार में अ, उ, और म् ये तीन वर्ण हैं। अकार विश्व का वाचक जागरणरूप है। उकार तैजस तथा मकार प्राज्ञ कहलाता है। सांसारिक लोगों की ऐसी धारणा है किन्तु यह व्यवस्था समाधि पूर्व की है। तत्त्वतः अर्थात् वस्तुतः ऐसी बात नहीं है।

प्रणव की व्याख्या माण्डूक्योपनिषद् में भी की गयी है।[1] लिखा है—'सोऽयमात्माध्यक्षमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥८॥' अर्थात् वह यह आत्मा अर्थात् परमात्मा उसके वाचक प्रणव के अधिकार अर्थात् प्रकरण में वर्णित होने के कारण अधिमात्रम् अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त ओंकार है। अकार (अ) उकार (उ) और मकार (म्) ये मात्राएँ ही तीन पाद हैं तथा उस ब्रह्म के तीन पाद ही तीन मात्राएँ हैं। जिस प्रकार ओंकार अपनी मात्राओं से अलग नहीं है उसी प्रकार परमात्मा भी अपने पादों से अलग नहीं है। विद्वानों का कहना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ

---

१. माण्डूक्योपनिषद् मन्त्र ८ से १२।

पाद और मात्रा की एकता ओंकार अर्थात् प्रणव के द्वारा परब्रह्म परमात्मा की उपासना के लिए की गयी है। तीनों मात्राओं का रहस्य समझाने के लिए आगे तीन मन्त्र दिये गये हैं।

सर्व प्रथम प्रथम पाद और प्रथम मात्रा की एकता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है –'**जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकार: प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह, वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद**॥' तात्पर्य यह है कि प्रणव अर्थात् ओंकार की प्रथम मात्रा अकार ही शब्दमात्र में व्याप्त होने के कारण तथा आदि अक्षर होने के कारण जागरित स्थान अर्थात् जगत् जैसा ही स्थूल जगद् रूप शरीर वाला वैश्वानर नामक प्रथम पाद है। जो इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही सम्पूर्ण कामों अर्थात् भोगों को प्राप्त कर लेता है और सबका आदि अर्थात् प्रधान बन जाता है। अकार की महिमा बताते हुए ऐतरेय आरण्यक का कहना है—'**अकारो वै सर्वा वाक्**'।[1] अकार से रहित कोई वर्ण नहीं है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण की उक्ति है, '**अक्षराणामकारोऽस्मि**।'[2] जिस प्रकार सभी वर्णों में अकार ही प्रथम वर्ण है उसी प्रकार स्थूल जगद्रूप विराट् शरीर में वैश्वानर रूप में अन्तर्यामी भगवान् व्याप्त हैं और विराट् रूप में सर्व प्रथम प्रकट होने के कारण जगत् के आदि भी है।

प्रणव की द्वितीय मात्रा 'उ' को स्पष्ट करते हुए माण्डूक्योपनिषद् का अगला मंत्र है—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्तर्ति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद' ॥१०॥

अर्थात ओंकार की द्वितीय मात्रा है'उ'। उत्कर्षात् अर्थात् 'अ' से उत्कृष्ट होने के कारण तथा उभयत्वात् दोनों भाव वाला होने के कारण स्वप्न सूक्ष्म जगद्रूप शरीर वाला तैजस नाम से अभिहित दूसरा पाद है। जो इस प्रकार जानता है वह अवश्य ही ज्ञान की परम्परा का उत्कर्ष करता है और समान भाव वाला हो जाता है तथा उसके कुल में ऐसा कोई नहीं होता जो ब्रह्मज्ञानी नहीं हो। यहाँ यह विचारणीय है कि 'उ' अक्षर 'अ' और 'म्' के बीच में स्थित हैं 'अ' से उत्कृष्ट है। दोनों के होने के कारण उभयस्वरूप भी है। उसी प्रकार वैश्वानर से तैजस अर्थात् हिरण्यगर्भ उत्कृष्ट है और वैश्वानर तथा प्राज्ञ के मध्य में स्थित होने के कारण दोनों के गुणों से प्रभावित हो तैजस कहा जाता है।

---

१. ऐतरेय आरण्यक २/३/६।

२. गीता अध्याय १० श्लोक ३३।

प्रणव के तृतीय अक्षर मकार के सम्बन्ध में माण्डूक्योपनिषद् की उक्ति है—

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ।।११।।

प्रणव अर्थात् ओंकार की तृतीय मात्रा 'म्' माप करने वाला अर्थात् जानने वाला होने के कारण तथा अपीते अर्थात् विलीन करने वाला होने के कारण सुषुप्ति के समान विलीन जगद्रूप शरीर वाला प्राज्ञ नामक तीसरा पद है। जो इस प्रकार समझ लेता है वह निश्चय ही इस सम्पूर्ण कारण जगत् को पूर्णत: समझ जाता है तथा सबको अपने में विलीन करने वाला हो जाता है।

प्रणव की अन्तिम 'म' की निष्पत्ति विद्वान् लोग मा धातु से मानते हैं जिसका अर्थ है वस्तु विशेष का माप या मान बताना या समझाना। 'म' प्रणव का अन्तिम वर्ण है। 'अ' और 'उ' के बाद इसका उच्चारण होता है, अत: दोनों का माप इसमें आ गया हुआ माना जाता है। यह 'म्' तथा प्राज्ञरूप परमेश्वर दोनों एक हैं। जो साधक दोनों की एकता को समझ लेता है तथा प्रणव का स्मरण करते हुए ब्रह्मचिन्तन करता है उसे जगत् का समूल ज्ञान हो जाता है। उसकी बाहरी दृष्टि निष्क्रिय हो जती हैं जिसके कारण वह भीतर बाहर सर्वत्र परमात्मा को ही देखने लगता है।

प्रणव की व्याख्या के क्रम में माण्डूक्योपनिषद् का अगला मन्त्र है—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य; प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽमानं य एवं वेद य एवं वेद।

अर्थात् मात्रारहित प्रणव ओंकार ही अव्यवहार्य, प्रपञ्च से अतीत, शिव अर्थात् कल्याणमय, अद्वितीय ब्रह्म का चतुर्थ पाद कहलाता है। आत्मा ही आत्मा के द्वारा अर्थात् अपने आप ही परमाामा में ब्रह्म में लीन हो जाता है। ओंकार ही भगवान् का निराकार स्वरूप है। इन्द्रियादि का अगोचर अर्थात् अविषय होने के कारण अव्यवहार्य, प्रपञ्चातीत, कल्याणमय और निर्गुण है। यह ओंकार अर्थात् प्रणव नाम है और परब्रह्म परमात्मा नामी है। नाम और नामी को एक समझते हुए प्रणव की उपसाना द्वारा 'जीव ब्रह्मैक्य' ज्ञान पूर्वक एकीभाव सम्भव है।

अध्यात्मरामायण का कहना है कि बहुधा व्यवस्थित अर्थात् अनेक प्रकार से स्थित अकार रूप विश्व पुरुष को 'उ' कार में विलुप्त करके अर्थात् उसमें लीन कर दे तथा प्रणव ओंकार के द्वितीय वर्ण तैजस उकार को उसके अर्थात्

प्रणव के अन्तिम वर्ण 'म्' में लीन करे। इस प्रक्रिया द्वारा कारणात्मा, प्राज्ञ रूप 'म्' को भी चिद्घन परमात्मा में लीन कर यह समझे कि मैं स्वयं नित्य-मुक्त, विज्ञानरूप, उपाधिरहित, निर्मल, शुद्ध परब्रह्म ही हूँ। इस प्रकार सदा परमात्मभावना में लीन रहते हुए आत्मानन्द में सन्तुष्ट हो गया है, उसी में मग्न हो गया है तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप विश्व को भुला दिया है जिसने वह नित्य आत्मा सुख का प्रकाशक अर्थात् आत्मानन्द के सुख का अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त अचल अर्थात् तरङ्गरहित समुद्र के समान स्वयं साक्षात् मुक्त स्वरूप अचल हो जाता है।

इस प्रकार जो निरन्तर समाधि योग का अभ्यास करने वाला है, जिसके सभी इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये है, जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है तथा जिसने मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वश में कर लिया है ऐसे महात्मा को परब्रह्म परमात्मा का अनवरत साक्षात्कार होता हैं। इस प्रकार रात दिन आत्मा का ध्यान करते हुए मुनियों को सर्वदा सर्वविध बन्धनों से मुक्त होकर अभिमान का त्याग कर प्रारब्ध फल को भोगते रहना चाहिये। प्रारब्ध कर्म के प्रति कर्त्तापन और भोक्तापन का भाव छोड़ देने से मनुष्य साक्षात् भगवान् में ही लीन हो जाता है। योगी को चाहिये कि वह संसार को आदि, मध्य और अन्त सभी अवस्थाओं में भय और शोक का कारण समझते हुए वेदविहित कर्मों के फेर में न रहकर सभी प्राणियों के अन्तरात्मा रूप अपने आत्मा का सर्वदा चिन्तन करता रहे। जिस प्रकार समुद्र में जल, दुग्ध राशि में दुग्ध, सम्पूर्ण रूप से आकाश अर्थात महाकाश में जिस प्रकार घटाकाश अर्थात् छोटे दायरे का आकाश तथा वायु में वायु सम्मिलित हो एक हो जाते हैं उसी प्रकार आत्म-चिन्तन करने वाले योगियों का आत्मा भी परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा रूप छोटा प्रकाश परमात्मा रूपी अनन्त प्रकाश में विलीन हो जाता है। दृष्टि दोषवश एक ही चन्द्रमा अनेक जैसा दिखाई देता है और मनुष्य को दिग्भ्रम हो जाता है किन्तु वस्तुत: वे श्रुति, युक्ति और प्रमाण द्वारा बाधित होने के कारण मिथ्या हैं। लोक में स्थित मुनि इन सबों को मिथ्या समझता हुआ अपने को इस प्रकार के भ्रम से दूर रखे।

जब तक मनुष्य को अखिल विश्व का ब्रह्ममय अनुभव नहीं होने लगे तब तक वह भगवदाराधान में सर्वदा तत्पर रहे। जो श्रद्धालु है तथा भक्ति जिस की उत्कृष्ट होती है उसके अपने हृदय कमल में सर्वदा ब्रह्मसाक्षात्कार होता रहता है। भगवान् राम ने अन्त में लक्ष्मण जी से कहा कि यह अध्यात्मविषय

जो मैंने बताया है उसका सदा मनन करने वाला स्वयं मुक्त हो जाता है। यह रहस्य वस्तुतः श्रुतिसार संग्रह है और श्रुतियों द्वारा प्रमाणित है।

यह दृश्यमान जगत् सर्वथा माया है। इस माया को चित्त से निकाल देना चाहिये और भगवद्भावना से भावित हो विशुद्ध मन हो आनन्दमय तथा निरामय अर्थात् क्लेशरहित हो जाना चाहिये। मुक्ति का यही मार्ग है। भगवान् तीनों गुणों से परे निर्गुण हैं। अतः, जो उनका निर्गुण या कभी सगुण रूप से भी सेवन करता है वह सर्वविध भगवान् का ही रूप है यह भगवद् भक्ति सम्पूर्ण लोक को ठीक उसी प्रकार पवित्र करती है जिस प्रकार सूर्य की किरणें। भगवान् राम ने लक्ष्मण जी को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा कि यह जो कुछ उपदेश मैंने दिया है वह समस्त श्रुतियों का सारतत्त्व है। यह वेदान्त-वेद्य भगवत्पाद ने स्वयं सुनाया हैं। गुरुभक्ति युक्त हो जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक इसका पाठ और मनन करेगा, उसकी यदि भगवान् और उनके वचनों के प्रति भक्ति है तो वह अवश्य ही भगवद्रूप हो जायगा।

भव-बन्धन तथा मुक्ति के उपाय

एक बार भगवान् राम के पुत्र कुश ने ऋषि वाल्मीकि से पूछा कि देह-धारियों को सुदृढ़ संसृति और बन्धन अर्थात् संसार रूप दृढ़ बन्धन कैसे उत्पन्न होता है तथा इस दृढ़ भव-बन्धन से देही कैसे मुक्त होता है।[1] उत्तर में महर्षि वाल्मीकि ने संक्षेप में भव-बन्धन और मोक्ष के स्वरूप तथा साधन का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि यदि तुम भी एतदनुसार आचरण करोगे तो जीवन्मुक्त हो जाओगे। देहरहित चेतन आत्मा का यह शरीर ही महागेह अर्थात् बहुत बड़ा भवन है। उस घर में आत्मा ने अहङ्कार को अपना मन्त्री बनाया है। यह अहङ्कार चेतन आत्मा में अपने देह-गेह आदि अभिमान को समारोपित कर उसके साथ अपना तादात्म्य दिखलाते हुए अर्थात् एकरूप हो अपनी सारी चेष्टाओं को चेतन आत्मा में ही आरोपित कर देता हैं। उस अहङ्कार के संकल्प में फँसा हुआ देही उसी के संकल्प से प्रेरित हो अहर्निश पुत्र, दार, गृह आदि के लिए ही संकल्प-विकल्प करता रहता है। इस प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प में पड़ा हुआ जीव सर्वदा शोक में पड़ा रहता है। अहङ्कार के सत्त्व, रजस् और तमस् नामक उत्तम, मध्यम और अधम शरीर हैं जो संसार की स्थिति के कारण हैं। तामस सङ्कल्प से अहर्निश तामस चेष्टाएँ ही होती हैं जिनसे अत्यन्त तामस रूप कृमि, कीट आदि की योनि प्राप्त होती है। सत्त्व

---

१. उत्तरकाण्ड सर्ग श्लोक ३८ से ५६।

संकल्प वाला धर्म-ज्ञान परायण होने के कारण मोक्ष साम्राज्य के अत्यन्त समीप रहते हुए सुखरूप हो रहता है। राजस संकल्प वाला व्यक्ति लौकिक व्यवहार आदिमें रहकर संसार में पुत्र कलत्र आदि में ही ही अनुरक्त रहताहै। जो व्यक्ति इन विविध संकल्पों का त्याग कर देता है वह चित्तवृत्ति निरोध पूर्वक परमपद को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य को चाहिये कि वह सब ओर से दृष्टि को फेर कर, मन को सब ओर से संयमित कर, बाह्य और आभ्यन्तर विषयों के संकल्पों का क्षय कर दे। संकल्प के उपशम के अतिरिक्त भव-बन्धन से मुक्त होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। यह संकल्पोपशम अनाबाध, अविकार, स्वसुखरूप तथा परम पवित्र है। अत: ऐसी शान्ति के लिए पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। माला में दाने के समान संकल्प तन्तु में सभी भाव गुँथे हुए हैं। तन्तु के छिन्न हो जाने पर सभी सांसारिक वैभव न जाने कहाँ चले जाते हैं। गीता में भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥[1]

अर्थात् जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब मुझ में गुँथा हुआ है। मुझ से अलग कुछ भी नहीं है, जिस प्रकार सूत्र में मणि के दाने गुंथे हुए होते हैं।

अन्त में वाल्मीकि मुनि ने कुश को उपदेश देते हुए बताया कि संकल्प-विकल्प का त्याग कर व्यवहार रूप में जो प्राप्त हो अर्थात् जो व्यवहार सामने आवे तदनुसार तत्पर हो कार्य करना चाहिए। संकल्पजाल के क्षय हो जाने से जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है। परमार्थ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर अर्थात् तद्ज्ञानसम्पन्न हो हठात् विकल्प जाल का परित्याग कर दे। अपार सुख की प्राप्ति के लिए चित्तवृत्ति को सुषुप्त करना अर्थात् उसका निरोध करना परम आवश्यक है।

वाल्मीकि ऋषि द्वारा ऐसा उपदेश दिया जाने पर कुश के सभी भ्रम दूर हो गये। वह अन्त:करण से मुक्त होकर बाहर से लोक व्यवहार में लग गया।[2]

माता कौसल्या को भक्त्युपदेश

परिचय प्राप्त होने पर अपने पुत्र लव और कुश के साथ भगवान् राम जब अयोध्या लौटे[3] तब से वे निःस्पृह हो आत्मचिन्तन परायण रहने लगे।

---

१. गीता अध्याय ७ श्लोक ७।

२. उत्तरकाण्ड सर्ग ७ श्लोक १

३. उत्तरकाण्ड सर्ग ७ श्लोक ५२ से ८२।

सर्वदा एकान्त सेवन ही उन्हें प्रिय था। एक बार एकान्त में उन्हें ध्यानावस्थित देख कर माता कौसल्या उनके पास गयीं और प्रसन्नता पूर्वक बोलीं—हे राम ! तुम स्वयं आदि, मध्य और अन्त रहित अर्थात् अनन्त हो, फिर भी जगत् का आदि तुम ही हो। तुमने परमात्मा, परमानन्द, पूर्ण पुरुष ईश्वर हो कर भी मेरे परम पुण्य के उदय होने से मेरे गर्भ में जन्म लिया। इतने दिनों वाद आज ही मुझे कुछ पूछने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरा अज्ञानजन्य भव-बन्धन पूर्णतः शिथिल नहीं हुआ है। अतः, विभुरूप आप मुझे ऐसा संक्षिप्त उपदेश दें जिससे मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाय जो भवबन्धन से छुटकारा दिलाने वाला हो।

मातृवत्सल, दयालु, धर्मात्मा भगवान् राम ने कहा कि मोक्ष साधन के तीन मार्ग मैंने पहले ही बतलाये हैं। वे हैं कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा शाश्वत भक्तियोग। गुणभेद से भक्ति के भी तीन भेद हैं। जिसका जैसा स्वभाव होता है उसकी भक्ति भी तदनुरूप ही होती है। जो हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य के उद्देश्य से भेद दृष्टि से भक्ति करता है वह भक्त तामस कहा गया है। फलाभिसन्धि वाला अर्थात् फल की कामना वाला, भोग की कामना वाला तथा धन और यश की कामना वाला व्यक्ति तत्तद् भेद बुद्धि से अर्चना करने के कारण राजस भक्त कहा गया है। सात्त्विक भक्त वह है जो अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल परम पुरुष परमात्मा को अर्पित कर देता है अथवा कर्त्तव्य समझ कर विना किसी भेद-वुद्धि के कार्य करता जाता है। जिस प्रकार गङ्गा का जल समुद्र में गिरकर उसी में लीन हो जाता है उसी प्रकार भक्त की मनोवृत्ति का भगवान् के गुणों का आश्रय ले उनके अनन्त गुणालय में अविच्छिन्न रूप से लीन रहना ही निर्गुण भक्तियोग है। भगवान् के प्रति अहैतुकी अर्थात् विना किसी कामना के अव्यवहित अर्थात् अनवरत भक्ति जो होती है वह भक्तों को सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य मुक्ति देती है। भगवल्लोक को प्राप्त करना सालोक्य, उनकी समीपता प्राप्त करना सामीप्य, उनके सदृश ऐश्वर्य प्राप्ति सार्ष्टि तथा उनमें लीन हो जाना सायुज्य मुक्ति है। ऐसी मुक्ति मिलने पर भी पक्का भगवद्भक्त उनकी सेवा के अतिरिक्त और कुछ की कामना नहीं करता। यही भक्ति मार्ग का आत्यान्तिक योग कहलाता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त कर भक्त तीनों गुणों का अतिक्रमण कर स्वयं भगवद्रूप हो जाता है।

सुगमता से भगवत्प्राप्ति के उपाय बताते हुए रामचन्द्र जी ने निर्गुण भक्ति की ओर संकेत किया और कहा कि मुमुक्षु को सर्वथा निष्काम भावना

से आचरण करना चाहिए। हिंसारहित प्रशस्त कर्मयोग, भगवद्दर्शन, स्तुति, महापूजा, रूपस्मरण, वन्दन, प्राणियों के प्रति भगवद्‌भावना, असत्य का त्याग तथा सत्सङ्ग का आश्रय लेना चाहिये। महापुरुषों का अत्यन्त आदर करना, दीन-दुःखियों के प्रति दया, अपने समान लोगों के प्रति मैत्रीभाव, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि का अभ्यास करते रहना, वेदान्त वाक्यों का श्रवण करणा, भगवन्नामसंकीर्तन करना, सत्सङ्ग करना, कोमल भावना को अपनाना, भगवद्धर्म की आकांक्षा आदि चित्त शुद्धि के उपाय बताये गये। इनके द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हो गया है उस व्यक्ति को भगवद्‌गुणों के श्रवण से ही सरलता से ब्रह्मोपलब्धि हो जाती है। जिस प्रकार वायु से प्रेरित गन्ध अपने आश्रय पुष्प आदि का त्याग कर जीव की नासिका में प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार योगाभ्यास में रत चित्त आत्मा में प्रवेश कर जाता है। सभी प्राणिमात्र में आत्मारूप में भगवान् स्वयं व्यवस्थित हैं। उस आत्मा को न पहचान कर मूढ़भावोपपन्न व्यक्ति केवल बाहरी भावना करता है। भगवान् राम ने स्वयं कहा है कि क्रिया से उत्पन्न अनेकविध द्रव्यों से भी भगवान् को तुष्टि नहीं होती। अन्य प्राणियों का अपमान करने वालों के द्वारा अर्चित होने पर भी मैं पूजित नहीं होता अर्थात् वैसी पूजा को भगवान् स्वीकार नहीं करते। प्रतिमा आदि में देवभावना से तब तक पूजा करे जब तक सभी जीवों में तथा अपने आप में स्थित परमात्मा को न समझ ले। अर्थात् जब वह यह समझ लेगा कि सभी जीवों में आत्मा रूप से परमात्मा का वास है और तदनुरूप अर्चना करने लगेगा तभी वास्तविक पूजा समझी जायगी। तुलसीदास जी ने भी रामचरितमानस में लिखा है—

सियाराममय सब जग जानी।
करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को सीताराममय समझ कर दोनों हाथ जोड़कर सबको सबको प्रणाम करना चाहिए। यहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'[1] वाक्य चरितार्थ होता है। जो अपने और परमात्मा में तथा अपने आत्मा और दूसरों के आत्मा में भेद मानता है उस भेद दृष्टि वाले को मृत्यु अवश्य ही भयावह होती है। जो आत्मा को ही परमात्मा समझ कर एकीभावको प्राप्त हो जाता है उसे मृत्यु से कोई भय नहीं। अतः सभी परिच्छिन्न प्राणियों में विराजमान परमात्मा को समझ कर अभेद बुद्धि वाला प्राणी उनका ज्ञान, मान और मैत्री द्वारा पूजन करे। सभी प्राणियों में चेतन, शुद्ध रूप परमात्मा को ही जीव रूप

१. छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१।

में विद्यमान समझकर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह सभी प्राणियों को चित्त से अर्थात् मन ही मन प्रणाम करे। बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि वे ईश्वर और जीव में अर्थात् आत्मा में भेददृष्टि कभी न रखें।

इस प्रकार भगवान् राम ने माता कौसल्या को भक्तियोग और ज्ञानयोग का उपदेश दिया। इन दोनों ज्ञानों में किसी एक का आलम्बन कर मनुष्य शुभ को प्राप्त करता है। इसलिए माता कौसल्या को भगवान् राम ने सभी प्राणियों में स्थित परमात्मा को अथवा पुत्ररूप में ही उन्हें जानकर भक्तियोग से सर्वदा स्मरण करते रहने का उपदेश दिया और कहा कि इसी मार्ग से उन्हें परम शान्ति प्राप्त होगी।

पुत्र राम के इन वचनों को सुनकर कौसल्या आनन्दविह्वल हो गयीं तथा हृदय में भगवान् राम का सदा ध्यान करती हुई संसार बन्धन को तोड़कर तीनों गतियों को पार कर परम गति को प्राप्त हुईं। तीनों गतियों का तात्पर्य धर्म, अर्थ और काम मालूम पड़ता है। धर्म, अर्थ और काम तो सांसारिक जीवों के समान उन्हें प्राप्त ही थे। अब परमगति मोक्ष की भी प्राप्ति उन्हें हो गयी।

कैकेयी को तो पुत्र रूप में ही भगवान् राम ने पहले ही योग का उपदेश दिया था जिसे उन्होंने पूर्ण रूप से हृदयङ्गम कर लिया था। श्रद्धा और भक्ति भाव से प्रशान्त चित्त हो हृदय में भगवान् राम का ध्यान करती हुई उन्होंने प्राण-त्याग किया। लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता सुमित्रा की भी ऐसी ही सद्गति हुई ओर तीनों ही माताओं ने स्वर्ग में पति दशरथ का सामीप्य प्राप्त किया।[1]

विभुरूप राम

दुर्वासा ऋषि ने भी भगवान् राम को विभु कहा है।[2] भगवान् राम से अन्तिम विदा लेकर लक्ष्मण जी सरयू तट पर आये और आचमन कर, हाथ जोड़ कर, अपनी नवों इन्द्रियों के दरवाजों को बन्द कर प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर किया। उन्होंने वासुदेव नामक अक्षर अर्थात् अविनाशी परब्रह्म पद का हृदय में ध्यान किया। देवताओं और ऋषियों ने उन पर पुष्पवृष्टि की। छद्म रूप से इन्द्र आये और उनको साथ लेकर स्वर्ग को चले गये। वहाँ शेषनाग रूप उन्हें देखने के लिए सभी देवता पधारे।

---

१. उत्तरकाण्ड सर्ग ७ श्लोक ८३-८४।

२. उत्तरकाण्ड सर्ग ८ श्लोक ४४।

देवाधिदेव का महाप्रयाण

अनन्त शक्ति भगवान् राम का जब महाप्रयाण हुआ उस समय ब्रह्माजी ने प्रकट हो हाथ जोड़ उनसे प्रार्थना करते हुए उन्हें परमात्मा, परमेश्वर, विष्णु, सदा आनन्दमय, पूर्ण तथा अपने ईश्वरीय तत्त्व को स्वयं अकेला ही समझने वाला देवाधिदेव बताया।[1]

१. उत्तरकाण्ड सर्ग ९ श्लोक ५२।

देववाणी-परिषदा प्रकाशिताः केचन ग्रन्थाः

१.	भाति मौरीशसम् (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० ६.००
२.	सारस्वतसमुन्मेषः (डा० विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्रः)	रु० २०.००
३.	श्रीपादसप्ततिः (श्रीपादपराग-व्याख्या) (डा० स्वामिनाथन्)	रु० ४०.००
४.	कूहा (काव्यम्) (डा० उमाकान्त शुक्लः)	रु० २०.००
५.	सदाशयसमुच्चयः (पं० टी० वी० परमेश्वर अय्यरः)	रु० १५.००
६.	आभाणकमञ्जरी (,, ,,)	रु० १५.००
७.	जय भारतभूमे ! (काव्यम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० ३०.००
८.	अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यपरिचयः (प्रथम खण्ड) (,,)	रु० ३०.००
९.	,, ,, ,, (द्वितीय खण्डः) (,,)	रु० ३०.००
१०.	राधाकृष्णरसायनम् (श्री ओट्टूर उण्णि नम्बूदिरीपादः)	रु० ४०.००
११.	निकषा (उपन्यासः) (डा० केशवचन्द्र दाशः)	रु० २०.००
१२.	अभागभारतम् (काव्यम्) (श्रीसुन्दरराजः)	रु० २०.००
१३.	भाति मे भारतम् (काव्यम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० ४०.००
१४.	संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना (डा० हरिनारायण दीक्षित)	रु० १५०.००
१५.	साधारणीकरण : प्राच्य एवं प्रतीच्य चिन्तन (डा० सुलेखचन्द्र शर्मा)	रु० ५०.००
१६.	अभिशापम् (नाटकम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० २०.००
१७.	रससिद्धान्त और नाटक (डा० सुन्दरलाल कथूरिया)	रु० ६०.००
१८.	साहित्यकौतुकम् (पं० टी० वी० परमेश्वर अय्यरः)	रु० ४०.००
१९.	पूर्णकुम्भः (ललितनिबन्धसंग्रहः) (पं० विष्णुकान्त शुक्लः)	रु० २०.००
२०.	स्फूर्तिसप्तशती (डा० शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी)	रु० ३०.००
२१.	रसदर्शनम् (डा० रमेशचन्द्र शुक्लः)	रु० ५०.००
२२.	श्रीबदरीशतरङ्गिणी (काव्यम्) (श्रीसुन्दरराजः)	रु० २०.००
२३.	सुरभिकाश्मीरम् (,,) (,,)	रु० २०.००
२४.	पुरश्चरणकमलम् (नाटकम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० १०.००
२५.	श्रीबदरीशसुप्रभातम् (डा० सी० आर० स्वामिनाथन्)	रु० १०.००
२६.	पण्डितराजीयम् (नाटकम्) डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० २०००
२७.	नियतिचक्रम् (ध्वनिनाटकम्) (,, ,,)	रु० २०.००
२८.	श्रीगरुडध्वजसपादशतकम् (डा० रामकिशोर मिश्रः)	रु० १२.००
२९	लक्ष्मीशतकम्, (डा० वरदराजकण्णन्)	रु० २०.०।
३०.	अध्यात्मरामायण में अध्यात्म-चिन्तन (श्रीत्रिगुणानन्द शुक्ल)	रु० ४०.००

देववाणी-परिषद् दिल्ली, ६ वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९.

दूरभाषः : ५५३४९९